

तृतीय अध्याय

हिंदी आलोचना में भाषा

आधुनिक हिंदी साहित्य का आरम्भ उपनिवेशवादी दौर में विदेशी शासन के तले अपनी अस्मिता की पहचान और निर्माण के राष्ट्रीय प्रयासों के बीच हुआ। अस्मिता का भाषा से गहरा संबंध होता है अतः इस दौर में भाषा-विवाद भी प्रबल रहे। 'हिंदी का नवजागरण काल एवं भाषा विवाद' पुस्तक के लेखक श्रीश जैसवाल ने भाषा विवाद को त्रिकोणात्मक संघर्ष के रूप में व्याख्यायित किया है।¹ भाषा-विवाद का पहला स्तर भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी के बीच था लेकिन भारतीय भाषाओं के समर्थक भी आपस में एकमत नहीं थे और इनमें एक धड़ा शास्त्रीय भाषाओं का समर्थक था तो अन्य धड़ा देशी भाषाओं का हिमायती। आधुनिक काल के आरम्भिक दौर में हिंदी में साहित्य की भाषा, शिक्षा की भाषा और सामाजिक मंचों की भाषा के रूप में किस तरह की भाषा को मान्यता दी जाए, इस प्रश्न पर भाषा-विवाद का यही त्रिकोणात्मक संघर्ष दिखता है। हिंदी-उर्दू विवाद जो हिंदीभाषी क्षेत्र में साहित्य की भाषा और अदालत की भाषा के सवाल से शुरू होकर धार्मिक-राजनीतिक वर्चस्व के संघर्ष तक पहुँची। खड़ी बोली और ब्रजभाषा विवाद आधुनिकता और पारम्परिकता का संघर्ष था, तो अंग्रेजी के सर्वग्रासी प्रभाव के बरक्स

हिंदी भाषा और साहित्यिक की सर्वांगीन उन्नति का प्रश्न राष्ट्रीय आंदोलन के स्तर का संघर्ष था। आधुनिक हिंदी साहित्य और आलोचना का विकास भी इन विवादों और इनसे उपजे संघर्षों के भीतर से हुआ है। अतः आलोच्य आलोचकों की भाषा-दृष्टि पर इस पृष्ठभूमि का प्रभाव है।

3.1 रामचन्द्र शुक्ल के भाषा-संबंधी विचार

रामचन्द्र शुक्ल के आलोचनात्मक मानदण्डों में भाषा का स्थान महत्वपूर्ण है। किसी भी कृति या कृतिकार का विश्लेषण करते हुए या उस पर संक्षिप्त टिप्पणी करते हुए भी आचार्य शुक्ल उसकी भाषा पर अवश्य टिप्पणी करते हैं। आचार्य शुक्ल विचार(साहित्य) और वाणी को एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं मानते। अपने आरंभिक लेख 'साहित्य' में वे लिखते हैं -

" 'विचार' और 'वाणी' एक-दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते।...वे एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। विचार और कल्पना भाषा द्वारा प्रकट किए जाते हैं। यही साहित्य है। पदार्थ साहित्य नहीं, पदार्थों का शब्द रूपी संकेत भी साहित्य नहीं और केवल शब्द भी साहित्य नहीं—विचार का नाम साहित्य है। ये विचार भाषा द्वारा प्रकट किए जाते हैं।"²

आचार्य शुक्ल भाषा को विचार और कल्पना के प्रकटीकरण का साधन या माध्यम भर नहीं मानते बल्कि आधुनिक भाषाविदों की ही भाँति भाषा को विचार और कल्पना की निर्मात्री मानने की ओर भी अग्रसर दिखते हैं—

"मनुष्य की बुद्धि को पशुओं की बुद्धि से जिस अंश में विशेषता है उसको ग्रीक भाषा में Logos कहते हैं। Logos का तात्पर्य बुद्धि और वाणी से है। यह नहीं जान पड़ता कि इनमें से कौन अर्थ यथार्थ है; मेरी जान तो उसमें दोनों बातें सम्मिलित हैं; क्योंकि वे एक-दूसरे से

पृथक नहीं कही जा सकती; वे यथार्थ में एक ही हैं। जिस प्रकार अग्नि का प्रकाश से जुदा होना असंभव है उसी प्रकार वाणी या भाषा के बिना 'विचार' का होना असंभव है।"³

आचार्य शुक्ल अपने आलोचनात्मक लेखन की शुरुआत से ही स्पष्टतः इस बात पर विश्वास करते हैं कि भाषा है तभी विचार हैं, भाषा के बिना विचार का होना असंभव है। यही कारण है कि कृतिकारों की समीक्षा करते हुए वे उनकी भाषा से उनकी प्रकृति या उनकी प्रवृत्तियों की परख करते हैं। कुछेक दृष्टांत इस प्रकार हैं-

नानक की भाषा पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं- "भक्ति या विनय के सीधे-सादे भाव सीधी-सादी भाषा में कहे गए हैं...इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है।"⁴

प्रतापनारायण मिश्र की भाषा-शैली पर लिखते हैं- "पं० प्रतापनारायण मिश्र की प्रकृति विनोदशील थी अतः उनकी भाषा बहुत ही स्वच्छंद गति से बोलचाल की चपलता और भावभंगी लिए चलती है।"⁵

दोनों ही टिप्पणियों में रचनाकार की भाषा-शैली का संबंध उसके स्वभाव या प्रवृत्ति से जोड़ा गया है। एक में भाषा से स्वभाव की सरलता या अहंभावशून्यता का परिचय तो दूसरी में स्वभाव से भाषा का विश्लेषण।

परंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भाषा को व्यक्तिगत नहीं मानते बल्कि जाति-विशेष की निर्मिति मानते हैं। वे लिखते हैं- "भाषा अपना मूल किसी जाति-विशेष में रखती है। उसके रहन-सहन का बड़ा भारी प्रभाव उस पर पड़ता है।"⁶

अन्यत्र वे लिखते हैं- "भाषा ही किसी जाति की सभ्यता को सबसे अलग झलकाती है, वही उसके हृदय के भीतरी पुर्जों का पता देती है जिसका निदान उन्नति के उपचार के

लिए आवश्यक है।"7 भाषा से जाति के गहरे-अविच्छिन्न संबंध की अपनी मान्यता को और भी स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- "किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है।"8 'जाति' शब्द का अर्थ आचार्य रामचंद्र शुक्ल के यहाँ 'नेशन' के अर्थ में है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उस दौर के आलोचक हैं जिस दौर में भारतीय समाज राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित था। हर तबके के विद्वानों-चिंतकों-कार्यकर्ताओं का लक्ष्य देश के नवनिर्माण का खाका तैयार करने का था। ऐसे में स्वाभाविक ही है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आलोचना-कर्म हिन्दी साहित्य के नवनिर्माण की भावना से परिपूर्ण हो। इसी भावना से प्रेरित उनका भाषा चिंतन भी है। किसी जाति की सभ्यता का संबंध उसकी परंपरा, साहित्य तथा भाषा से जोड़कर समझाने के क्रम में वे लिखते हैं- "साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के अखंड स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहां से वहां तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। जबकि साहित्य व्यक्त वाणी या वाग्विभूति का संचित भंडार है तब पहले भाषा पर ही ध्यान जाना स्वाभाविक है।"9

इस उद्धरण से जो बिन्दु हमें प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं-

- साहित्य किसी जाति-विशेष का होता है।
- साहित्य किसी जाति-विशेष की रक्षित वाणी की अखंड परंपरा है।
- साहित्य जाति-विशेष के जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करता है।

- जगत की गति के अनुरूप साहित्य जाति-विशेष का अंतर्विकास भी करता चलता है।

आचार्य शुक्ल के समक्ष साहित्य की भाषा का मानदंड साहित्य की इसी परिभाषा और उसके इन्हीं उद्देश्यों से निःसृत होता है। साहित्य में प्रयोग के अनुकूल भाषा आचार्य शुक्ल के अनुसार वह है जो देश व जाति की परंपरा से जुड़ी हो और साथ ही इतनी लचीली और समर्थ हो कि 'जगत की गति के अनुरूप हो रहे' साहित्यिक-सांभ्यतिक अंतर्विकास को व्यक्त कर सके। आचार्य शुक्ल जब 'चलती भाषा' की पैरवी हर जगह करते हैं तब वे भाषा के इसी दायित्व की ओर संकेत करते हैं।

काव्य-भाषा के संबंध में आचार्य शुक्ल ने सैद्धांतिक चिंतन भी प्रस्तुत किया है। भाषा के कई प्रकार्य होते हैं जो अलग-अलग प्रयोजनों के लिए अलग-अलग होते हैं। काव्य-भाषा कैसी हो, इसकी चर्चा वे काव्य के मानसिक उद्देश्य के संदर्भ में करते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार, “काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं।”¹⁰ इस तरह मोटे तौर पर भाषा के दो पक्षों की बात वे कहते हैं। बुद्धि के सामने विचार लाने के लिए यानी तर्क के लिए भाषा के संकेत मात्र के पक्ष से काम चलता है जिसमें अर्थग्रहण भर पर्याप्त होता है। पर काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण पक्ष से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिम्बग्रहण होता है अर्थात् उसकी मूर्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है।¹¹

साहित्य की अलग-अलग विधाओं का अलग-अलग लक्ष्य होता है और उन लक्ष्यों की पूर्ति भाषा के तदनुसार प्रयोग से सुनिश्चित होती है। काव्य का उद्देश्य कल्पना में बिम्ब खड़ा करने के साथ-साथ विषयवस्तु के प्रति सहृदय पाठक/श्रोता के मन में भाव या

राग उत्पन्न करना भी है, केवल वस्तु का ज्ञान करा देना काव्य का काम नहीं है। सूरदास की कविता पर विचार करते हुए शुक्ल जी कहते हैं- “काव्य की उक्ति का लक्ष्य किसी वस्तु या विषय का बोध कराना नहीं, बल्कि उस वस्तु या विषय के संबंध में कोई भाव या राग उत्पन्न करना होता है। तार्किक जिस प्रकार श्रोता को अपनी विचार-पद्धति पर लाना चाहता है उसी प्रकार कवि अपनी भाव-पद्धति पर।”¹²

उपरोक्त दोनों उद्धरणों में काव्य के उद्देश्य या कविता के काम के विषय में शुक्ल जी की जो मान्यता है उसके अनुसार कविता के लिए वे लाक्षणिक भाषा को उपयुक्त मानते हैं। अपने सैद्धांतिक ग्रंथ ‘रस मीमांसा’ में वे लिखते हैं- “कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए।...अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्तिविधान के लिए वह भाषा की लक्षणाशक्ति से काम लेती है।...लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आदान-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है।”¹³

काव्य का विषय मार्मिक होना चाहिए और काव्यभाषा में वह सामर्थ्य होनी चाहिए कि मर्म तक भाव को ले जा सके। इसके काव्य में शब्द-चयन कैसा हो, इस पर शुक्ल जी लिखते हैं- “भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण...उसमें जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत-से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता-सा अर्थग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत-सूचक कह सकते हैं। ये मूर्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते।”¹⁴

भारतेन्दु जिस तरह हिंदी गद्य-पद्य विधा की रचना के परिप्रेक्ष्य में आचार्य शुक्ल को पुराने और नये के संधिस्थल पर पूरे विवेक के साथ खड़े दिखते हैं, उसी तरह आधुनिक

हिंदी आलोचना के प्रथम समर्थ व मौलिक दृष्टिसम्पन्न आलोचक रामचंद्र शुक्ल भी साहित्य-समीक्षा में पुरानी परम्परा के आचार्यों की तरह सिद्धांत-निर्माण व व्याहारिक व्याख्यात्मक-निर्णयात्मक आलोचना के संधिस्थल पर पूरे विवेक के साथ खड़े दिखते हैं। आधुनिक युग के साहित्य के विवेचन के लिए नये उपकरण गढ़ने के साथ-साथ परम्परा में शताब्दियों में विकसित हुए उपकरणों का भी चयन व प्रयोग नये संदर्भ में करते हैं। कविता संबंधी उनके सैद्धांतिक विवेचन से बात सिद्ध होती है।

रामचंद्र शुक्ल की व्यावहारिक साहित्यिक आलोचना का एक प्रमुख मानदंड रचना की 'साहित्यिकता' का निर्धारण है और इसके निर्धारण का मुख्य उपकरण है रचनाकार की भाषा। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में साहित्य के लक्षण वे इस प्रकार बताते हैं- "साहित्य के अंतर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।"¹⁵

काव्य या साहित्य में किसी भी तरह की अनावश्यक चमत्कारप्रियता या आडम्बर को खारिज करते हुए भी शुक्लजी कलापक्ष की दृढ़ता को साहित्य के लिए आवश्यक मानते हैं। कबीर तथा तुलसीदास संबंधी उनके विचारों से यह बात समझी जा सकती है। शुक्लजी के अनुसार कबीर के उपदेशों का कोई साहित्यिक लक्ष्य नहीं था और इस साहित्यिक लक्ष्य के न होने के कारण कबीर की भाषा उन्हें 'बेठिकाने' की लगती है। कवि तुलसीदास के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में वे एक चमत्कार मानते हैं क्योंकि 'हिंदी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा।'¹⁶ ऐसा मानने के पीछे कारण यह है कि हिंदी साहित्य की उसके आदिकाल से प्रचलित काव्यभाषा और पद्य-रचना की विभिन्न प्रचलित शैलियों पर पूरा अधिकार तुलसीदास में ही एकसाथ

दिखता है। शुक्ल जी साहित्यिक लक्ष्य के साथ सतर्क रूप से रचना करना एक कवि का आवश्यक गुण मानते हैं। तुलसीदास से पहले के हिन्दी साहित्यिक परिदृश्य पर वे लिखते हैं- “वीरगाथा काल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्य-भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परम्परा निभाते आ रहे थे। चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति इनके द्वारा नहीं हुई। भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। कबीरदास ने चलती बोली में अपनी बानी कही। पर वह बोली बेठिकाने की है। उसका कोई नियत रूप न था। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिए स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था। उन्होंने नाथपंथियों की ‘सधुखड़ी भाषा’ का व्यवहार किया जिसमें खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था। इसका कारण यह था कि मुसलमानों की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गई थी और निर्गुणपंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था। अतः उनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का भी मनमाना प्रयोग मिलता है। उनका कोई साहित्यिक लक्ष्य न था और वे पढ़े-लिखे लोगों से दूर ही दूर अपना उपदेश सुनाया करते थे।”¹⁷ भक्त कवियों में सूरदास ऐसे थे जो ‘ब्रज की चलती भाषा को परम्परा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोक-व्यवहार के मेल में ले आए।’ लेकिन सूरदास की भाषा में एक खामी है कि इनके यहाँ ‘ऐसे वाक्य मिलते हैं जो विचारधारा को आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते, केवल पाद-पूर्यार्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार तुकांत के लिए शब्द भी तोड़े गए हैं।’¹⁸ केवल तुलसीदास ऐसे कवि हैं जिनकी रचना का लक्ष्य भक्ति के अलावा साहित्य-रचना भी है और इसी कारण उनमें शब्दों की मितव्ययिता के साथ कलापक्ष का पूरा अभ्यास भी है। क्योंकि ‘गोस्वामी जी शास्त्रपारंगत विद्वान थे अतः उनकी शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत गर्भित है। जायसी

में केवल ठेठ अवधी का माधुर्य है, पर गोस्वामी जी की रचना में संस्कृत की कोमलकांत पदावली का भी बहुत-ही मनोहर मिश्रण है।¹⁹ साथ ही, उनमें साहित्यमर्मज्ञता, भावुकता और गम्भीरता इतनी है कि उन्होंने कहीं भी रचना-नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन नहीं किया है और न ही शब्द-चमत्कार आदि के खेलवाड़ में फँसे हैं। भाषा में सफाई इतनी है कि एक भी शब्द फालतू नहीं।²⁰

तुलसीदास की भाषा और शिल्प संबंधी विवेचन और मूल्यांकन करते हुए रामचंद्र शुक्ल रचना की भाषा संबंधी अपनी दृष्टि का परिचय सबसे अधिक विस्तार से देते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसीदास उन्हें पहले ऐसे कवि दिखाई पड़ते हैं जिनके विषय में वे 'यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिन्दी को प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए काफी है।'²¹ शुक्लजी द्वारा तुलसीदास की भाषा के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने काव्यभाषा संबंधी अपने मानदंड अपने समय की प्रमुख साहित्यिक चिंता—रीतिवाद से मुक्ति—के बीच से निर्मित की थी। काव्य में रूप और अंतर्वस्तु दोनों ही स्तरों पर आडम्बर और चमत्कारप्रियता तथा बँधी-बँधाई लीक पर चलने की प्रवृत्ति शुक्ल जी को पसंद नहीं आती। शुक्लजी का अपना समय हिंदी भाषा को व्याकरणिक रूप से व्यवस्थित करके उसे विचारों को अधिकाधिक पूर्णता और स्पष्टता के साथ वहन करने योग्य बनाने का है। भाषा के प्रति यह दृष्टि शुक्लजी के यहाँ आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्यकारों की भाषा पर की गई उनकी टिप्पणियों में देखी जा सकती है। भाषा से क्षेत्रीय और सम्प्रदायगत विशिष्टताओं को हटाकर उसके शिष्ट सामान्य रूप के प्रयोग, भाषा में शब्द-प्रयोग और वाक्यरचना के स्तर पर शुद्धता, भाषा का सहज-आडम्बरहीन चलता रूप आदि को वे प्रशंसीय मानते हैं। इसके पीछे हिंदी को राष्ट्रभाषा बनने लायक लचीले-

सामान्य और सहज-बोधगम्य रूप में विकसित होते देखने की कामना भी है। 'बुद्धचरित' की भूमिका में ब्रजभाषा के अखिल भारतीय काव्यभाषा बनने के पीछे शुक्लजी ने उसमें इन्हीं विशेषताओं को कारण माना है।

कविता की भाषा में चुस्ती और मितव्ययिता को रामचंद्र शुक्ल इतना महत्व देते हैं कि जहाँ सूरदास जैसे बड़े कवि की भाषा में भरती के शब्द देखकर उनकी इस कमी पर अंगुली रखते हुए कहते हैं कि सूरदास में ऐसे वाक्य मिलते हैं जो विचारधारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते, केवल पाद-पूर्त्यर्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं। वहीं 'सुदामाचरित' के कवि नरोत्तम दास की भाषा की प्रशंसा करते हैं- "(सुदामाचरित) की भाषा बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियों के समान भरती के शब्द और वाक्य इनमें नहीं है।"²² रीतिकाल के बड़े कवि भूषण की काव्यभाषा में व्याकरणिक गड़बड़ी और अशक्त गढ़ंत शब्दों के प्रयोग को उनकी कमजोरी बताते हैं और नेवाज कवि में 'भरती के शब्दों और वाक्यों से रहित' काव्यभाषा के प्रयोग की प्रशंसा करते हैं।

शुक्लजी कवि की सच्ची भावुकता और सहृदयता की परख काव्यभाषा के प्रति उसके रवैये से मानते हैं। रीतिकालीन कवि सोमनाथ पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है- "इनमें भावुकता और सहृदयता पूरी थी, इससे इनकी भाषा की कृत्रिमता नहीं आने पाई।...सघन और पेंचीले मजमून गाँठने के फेर में न पड़ने के कारण इनकी कविता को साधारण समझना सहृदयता के सर्वथा विरुद्ध है।"²³ पेंचीले मजमून गाँठने वाले, कठिन काव्य के प्रेत कहे जाने वाले भक्तिकालीन रीतिकवि केशवदास की भाषा के विषय में वे लिखते हैं- "अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और संबंध के अभाव आदि के कारण भी उनकी

भाषा अप्रांजल और उबड़-खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यह त्रुटि है—उनके मौलिक भावों की गम्भीरता या जटिलता नहीं।²⁴ कविता अगर कठिन भाषा में है तो उसमें कोई गूढ़ अर्थ होगा, शुक्लजी इस बात को स्वीकार नहीं करते। कवि के भाव सच्चे और गम्भीर होंगे तो वह उक्ति वैचित्र्य और शब्दक्रीड़ा का प्रेमी नहीं होगा; भाव और विचार का पूरी प्रभावात्मकता और स्पष्टता के साथ सम्प्रेषण ही उसकी भाषा का प्रधान लक्ष्य होगा।

शुक्लजी काव्यभाषा के सौंदर्यपक्ष को उसके सम्प्रेषणपरक गुण का विरोधी नहीं मानते। कविता के सम्प्रेषण की सफलता यह है कि वह अर्थ के कितने विस्तृत और गहरे स्तरों को अभिव्यक्त करती है। घनानंद की काव्यभाषा के विषय में लिखते हुए शुक्लजी ने इन बातों की ओर संकेत किया है। घनानंद को उन्होंने ऐसे विरले कवियों में माना है जो भाषा की व्यंजकता को बढ़ाते हैं और ऐसा वे इसलिए कर पाते हैं क्योंकि उनके भावों की गहराई और अनूठेपन से उनमें यह शक्ति उत्पन्न होती है। अपनी भावावेग रंजित भाषा में आचार्य शुक्ल इस संबंध में लिखते हैं- “यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा किसी और कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव-भंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा की नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और यह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी।...भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से नई शक्ति प्रदान की है।”²⁵

बिहारी के कवित्व पर टिप्पणी करते हुए मुक्तक रचना के विषय में एक सिद्धांत कथन जैसा वाक्य लिखते हैं- “जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ-साथ भाषा की समाहार शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक रचना में सफल होगा।”²⁶ शुक्लजी की इस बात से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य का कोई रूप (फॉर्म) रचनाकार की विशिष्ट मानसिक बुनावट और उसकी विशिष्ट भाषा-क्षमता का निदर्शन होती है और उससे निर्धारित होती है।

भाषा की समाहार शक्ति से मुक्तक जैसे छोटे आकार के काव्यरूप में भावों की पूरी शृंखला को भरना बहुत बड़ी प्रतिभा का काम है, लेकिन आचार्य शुक्ल के लिए बड़े कवि का लक्षण है उसके भाषा-प्रयोग में शैली की अनेकरूपताएँ। कवि पद्याकर की काव्यभाषा पर विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है- “भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मीलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर दर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य जीवन को विश्रान्ति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास में दिखाई पड़ती है।”²⁷

जिस प्रकार भाषा-प्रयोग का कोई साहित्यिक लक्ष्य न होने के कारण शुक्लजी कबीर की कविता को साहित्य की कोटि में नहीं रखना चाहते उसी प्रकार गिरधर कविराय को भी उनकी भाषा के आधार पर कोरा पद्यकार ही कहना पसंद करते हैं, सूक्तिकार का पद भी नहीं देते।²⁸ गिरधर कविराय के विषय में वे लिखते हैं- “इनकी नीति की कुंडलियाँ ग्राम-

ग्राम में प्रसिद्ध हैं। अपढ़ लोग भी दो-चार चरण जानते हैं। इस सर्वप्रियता का कारण है बिलकुल सीधी-सादी भाषा में तथ्य मात्र का कथन। इनमें न तो अनुप्रास आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार। कथन की पुष्टिमात्र के लिए (अलंकार की दृष्टि से नहीं) दृष्टांत आदि इधर-उधर मिलते हैं... वृंद कवि में और इनमें यही अंतर है। वृंद ने स्थान-स्थान पर अच्छी घटती हुई और सुंदर उपमाओं आदि का भी विधान किया है। पर इन्होंने कोरा तथ्य कथन किया है।²⁹ आचार्य शुक्ल कलावादी नहीं हैं लेकिन कलात्मक सौंदर्य भी साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है, अन्य भाषिक प्रकार्यों से साहित्य का भेदक लक्षण भाषा का कलात्मक प्रयोग है। शुक्लजी मानते हैं कि भाषा में अलंकारों के सार्थक संतुलित प्रयोग से भावानुभव की वृद्धि होती है। तुलसीदास की काव्यभाषा पर चर्चा के क्रम में अलंकार को परिभाषित वे लिखते हैं- “भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।”³⁰ अलंकार एक युक्ति-मात्र है, इसे साध्य मानकर रचा गया, मौलिक भाव-विचार से रहित शब्दाडंबर साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं है तो भाषिक सौंदर्य से रहित कोरा तथ्य-कथन भी साहित्य नहीं है। **आचार्य रामचंद्र शुक्ल साहित्य में रूप और अंतर्वस्तु के सुंदर सामंजस्य के हामी हैं।**

आधुनिक हिंदी कविता में खड़ी बोली के आरम्भिक प्रयासों पर विचार करते हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा के प्रभाव का विश्लेषण भी शुक्ल जी ने किया है। काव्यभाषा में सफाई और व्यवस्था लाने में द्विवेदीजी के प्रयासों की प्रशंसा वे जरूर करते हैं लेकिन कविता में बोलचाल की भाषा के प्रयोग के नाम पर गद्य और पद्य के विन्यास की एकरूपता के प्रचार को उन्होंने ठीक नहीं माना है। कविता की भाषा को गद्य का स्वरूप देने की इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं- “उनका (महावीर प्रसाद

द्विवेदी का) जोर इस बात पर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए। बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिंदूस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत (Prosaic) हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है ‘गिरा अर्थ जल बीच सम कहियत भिन्न न भिन्न’—**भाषा से विचार अलग नहीं रह सकता**। उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है।³¹ बोलचाल की भाषा और गद्य की भाषा को एक समझने के कारण काव्य की भाषा के गद्यवत होने की बात को आचार्य शुक्ल की तरह परवर्ती काल में आलोचक नामवर सिंह ने भी लक्षित किया है और इस धारणा को कविता के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं माना है। कविता का लक्ष्य गद्य के लक्ष्य से अलग होता है। विचारों से अधिक कविता भाव को प्रभावित करने की विधा है, मनुष्य के आदिम अवचेतन को स्पर्श करने वाली विधा है। अतः इसकी अभिव्यक्ति की प्रणाली यानी भाषा-शैली भी गद्य से अलग होती है। **चेतना से भी गहरे स्तर पर पहुँचने के लिए कविता शब्दार्थ के अलावा शब्द और अर्थ के सौंदर्य से काम लेती है, ध्वनि की लय से काम लेती है**। कविता की भाषा को गद्यवत बना देने से कविता इकहरी होती है, इसकी भावक्षमता में कमी आती है, जिस वस्तुसत्य के प्रकटीकरण का माध्यम कविता बनती है, उस वस्तुसत्य का स्वरूप भी सरलीकृत होकर निष्प्रभ हो जाता है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी स्कूल के कवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्यभाषा में भी गद्यात्मकता का वही स्वरूप आचार्य शुक्ल देखते हैं। उनके सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ ‘भारत-भारती’ के संबंध में वे लिखते हैं- “यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक

चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का इसमें विधान न था, पर बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिंदी कविता के लिए खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी।”³² मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं की ख्याति के बावजूद आचार्य शुक्ल उन्हें काव्य नहीं कह पाए हैं। भाषा साफ-सुथरी है, प्रसंग-योजना प्रभावी है, पर सबकुछ होने के बावजूद- “ये रचनाएँ काव्य प्रेमियों को कुछ गद्यवत, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं। इसमें सरस और कोमल पदावली की कमी खटकती थी।”³³लेकिन आचार्य शुक्ल इसका कारण भी समझते हैं कि ‘यह खड़ी बोली के परिमार्जन का काल था। और इसमें कोई संदेह नहीं कि इस उद्देश्य में मैथिलीशरण गुप्त सफल हुए थे। उनके प्रयास का ऐतिहासिक महत्व शुक्लजी स्वीकार करते हैं।

द्विवेदी मंडल के जो कवि मैथिलीशरण गुप्त की तरह प्रतिभाशाली नहीं थे, उनके यहाँ काव्य की गद्यवत भाषा का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। द्विवेदी युग के प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त भी बहुत सारे लोग द्विवेदीजी से प्रेरित होकर खड़ी बोली में कविता करने को प्रवृत्त हुए थे। ‘भाषा की गद्यवत सीधी-सरल गति’ ने कविता करने को आसान बना दिया था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए शुक्लजी ने लिखा है- “ऐसी कविताओं से मासिक पत्रिकाएँ भरी रहती थीं। जो कविता को अपने से दूर की वस्तु समझते थे वे भी गद्य में चलने वाली भाषा को पद्यबद्ध करने का अभ्यास करने लगे। उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होने लगीं। उनके संबंध में यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि वे अधिकतर इतिवृत्तात्मक गद्य निबंध के रूप में होती थीं। इसका फल यह हुआ कि काव्य-प्रेमियों को उनमें काव्यत्व नहीं दिखाई पड़ता था और ये खड़ी बोली की अधिकांश कविता को ‘तुकबंदी’ मात्र समझने लगे थे।”³⁴ कविता के नाम पर खड़ी बोली गद्य को अंत्यानुप्रासयुक्त

छंदों में ढालने की प्रवृत्ति से सहृदय समाज में खड़ी बोली कविता के विषय में उच्च स्तर की धारणा नहीं बन रही थी ।

इस स्थिति से खड़ी बोली की कविता को उबारकर उसे सही मायने में काव्योचित भाषा बनाने का काम मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय की परवर्ती कविताओं के अलावा छायावादी कवियों के हाथों हुआ, इस तथ्य को आचार्य शुक्ल स्वीकार करते हैं । वे मानते हैं कि छायावादी कविता पर बांग्ला की रहस्यात्मक कविताओं के सजीले और कोमल मार्ग का प्रभाव है और साथ ही अंग्रेजी काव्यों से परिचित छायावादी कवि अंग्रेजी से तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोग लेकर वाक्यों और पदबंधों का हिंदी में ज्यों-का-त्यों अनुवाद करके अपनी रचनाओं में बैठाने लगे थे ।³⁵ इस प्रवृत्ति को हिंदी की अपनी प्रकृति का सहज विकास न मानने पर भी काव्यभाषा के क्षेत्र में छायावादी कवियों के योगदान को इन शब्दों में बताते हैं- “छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्यशैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं । उसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी ।”³⁶ काव्य का स्वरूप संघटित करने वाले अनेक तत्त्वों का विकास छायावादी कवियों ने किया, जो द्विवेदी युग के कवि न कर सके थे । लेकिन आचार्य शुक्ल के मत से छायावाद के भीतर काव्य के वस्तुविधान गौण हो गया था अर्थात् ‘अर्थभूमि और वस्तुभूमि का उसके भीतर बहुत संकोच हो गया था ।’³⁷

छायावाद की विशेषताओं को बहुत हद तक समझते हुए भी आचार्य शुक्ल का मन द्विवेदीयुगीन काव्य का पक्ष छायावाद से अधिक लेना चाहता है । द्विवेदीयुगीन कवियों की भाषा को छायावादी युग में अधिक प्रौढ़, मँजी हुई और काव्योचित मानते हुए वे लिखते

हैं- “खड़ी बोली को पद्यों में ढलने में जो काल लगा उसके भीतर की रचना तो बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक रही पर इस तृतीय उत्थान में आकर यह काव्यधारा कल्पनान्वित, भावाविष्ट और अभिव्यंजनात्मक हुई। भाषा का कुछ दूर तक चलता हुआ स्निग्ध, प्रसन्न और प्रांजल प्रवाह इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। खड़ी बोली वास्तव में इसी धारा के भीतर मँजी है। भाषा का मँजना वहीं संभव होता है जहाँ उसकी अपनी गतिविधि का पूरा समावेश होता है और कुछ दूर तक चलने वाले वाक्य सफाई के साथ पद्यों में बैठते चले जाते हैं। एक संबंधसूत्र में बद्ध कई अर्थसमूहों की एक समन्वित भावना व्यक्त करने के लिए ऐसी ही भाषा अपेक्षित होती है। जहाँ एक-दूसरे से असंबद्ध छोटी-छोटी भावनाओं को लेकर वाग्वैशिष्ट्य की झलक या चलचित्र की ही छाया दिखाने की प्रवृत्ति प्रधान होगी वहाँ भाषा की समन्वित शक्ति का प्रयोग न मिलेगा। व्यापक समन्वय के बिना ऐसा कोई समन्वित प्रभाव भी नहीं पड़ सकता जो कुछ काल तक स्थायी रहे।”³⁸ स्पष्ट है कि काव्य के समन्वित और दीर्घ काल तक स्थायी प्रभाव को आवश्यक मानने वाले रसवादी आलोचक शुक्लजी के लिए जिस तरह मुक्तक कविता काव्य का आदर्श रूप नहीं है उसी तरह छायावादी प्रगीत भी काव्य का आदर्श रूप नहीं हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल मुख्यतः कविता के आलोचक हैं। उन्नीसवीं के उत्तरार्द्ध में हिन्दी भाषा में गद्य विधाओं में मौलिक लेखन की विधिवत शुरुआत हुई। उसके पहले का सारा हिंदी साहित्य मुख्यतः काव्य-साहित्य रहा है। ऐसे में साहित्य सिद्धांत और आलोचना की परम्परा का मुख्य रूप से कविता केंद्रित होना स्वाभाविक है। अतः आचार्य शुक्ल के आलोचना-कर्म के केंद्र में भी कविता है और भाषा-सम्बंधी उनके विचार और आलोचनात्मक मानदंड मुख्य रूप से कविता की भाषा से जुड़े हैं। परंतु अपने समय तक प्रचलित गद्य विधाओं यथा- नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, समालोचना आदि पर भी

शुक्ल जी ने संक्षेप में विचार किया है और विधावार उनकी भाषा की विशेषताओं पर विचार प्रकट किए हैं।

ऐतिहासिक रूप से आचार्य शुक्ल का समय आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्भव और उसके प्रौढ़ होने के बीच का संक्रांति काल है। खड़ी बोली हिंदी के अपने मौलिक अस्तित्व की राजनीतिक-सामाजिक रूप से स्वीकृति के साथ ही उसके साहित्य को विश्व साहित्य के श्रेष्ठ के बीच बैठने लायक बनते देखने की चिंता आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि के केंद्र में है। इसके लिए वे आवश्यक मानते हैं कि हिन्दी के लेखक साहित्य रचना के लिए परमुखापेक्षी न रहें बल्कि अपनी परम्परा और अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी समझ के साथ साहित्य रचना में प्रवृत्त हों। गम्भीर लेखन के लिए भाषा के प्रति साहित्यकार का गम्भीर रवैया वे आवश्यक समझते हैं। अपने साहित्येतिहास के 'आधुनिक काल : प्रकरण 5- गद्य की वर्तमान गति', जो ऐतिहासिक रूप से वह दौर है जिसमें शुक्ल जी वर्तमान व सक्रिय हैं, में हिंदी में लेखन की भाषा की स्थिति को दर्शाते हुए वे लिखते हैं- "आजकल भाषा की भी बुरी दशा है। बहुत-से लोग लिखने का अभ्यास होने से पहले ही बड़े पोथे लिखने लगते हैं जिनमें व्याकरण की भद्दी भूलें तो रहती ही हैं, कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास तक ठीक नहीं रहता। यह बात और किसी भाषा के साहित्य में शायद ही देखने को मिले। व्याकरण की भूलों तक ही बात नहीं है। अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले हैं। वे अंग्रेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यों के त्यों उठाकर रख देते हैं, यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिंदी ही हुई या कुछ और।"³⁹ अपने समय की परिस्थियों और भाषाई सवालों से ही शुक्ल जी पीछे के साहित्यकारों की भाषा और भाषिक अवदान का मूल्यांकन करते हैं।

अपने साहित्येतिहास में गद्य साहित्य परम्परा के प्रवर्तन और विकास की चर्चा करते हुए गद्य लेखकों की भाषा पर पैनी निगाह रखते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र की पत्रिका 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' और उनकी 'हरिश्चंद्री हिंदी' पर वे टिप्पणी करते हैं- "(संवत्) 1930 में उन्होंने (भारतेंदु ने) 'हरिश्चंद्र मैगजीन' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम आठ संख्याओं के उपरांत 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' हो गया। हिंदी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी 'चंद्रिका' में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ।...इस 'हरिश्चंद्री हिंदी' के आविर्भाव के साथ ही नए-नए लेखक भी तैयार होने लगे।...हिंदी गद्य साहित्य के इस आरम्भ काल में ध्यान देने की बात है कि उस समय जो थोड़े से गिनती के लेखक थे, उनमें विदग्धता और मौलिकता थी और उनकी हिंदी हिंदी होती थी। वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचानने वाले थे। बंगला, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी के अनुवाद का वह तूफान जो पचीस-तीस वर्ष पीछे चला और जिसके कारण हिंदी का स्वरूप ही संकट में पड़ गया था, उस समय नहीं था। उस समय के लेखक ऐसे न थे जो बंगला की पदावली या वाक्य ज्यों के त्यों रखते हों या अंग्रेजी वाक्यों और मुहावरों का शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद करके हिंदी लिखने का दावा करते हों। उस समय की हिंदी में न 'दिक्-दिक् अशांति थी, 'न काँदना, सिहरना और छल-छल अश्रुपात' न 'जीवन होड़' और 'कवि का संदेश' था, न 'भाग लेना' और 'स्वार्थ लेना'।"⁴⁰ हिंदी भाषा की साहित्यिक भाषा पर अन्य भाषाओं के मुहावरों, पदबंधों का प्रभाव वे हिंदी के अपने स्वाभाविक विकास में बाधक मानते हैं। संस्कृत के अतिशय प्रभाव और तात्समिकता को भी उन्होंने प्रशंसनीय नहीं माना क्योंकि वे हिंदी साहित्य और भाषा को ऐसे रूप में विकसित होते देखना चाहते थे जिसे 'जनता उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपना सके। 'हरिश्चंद्र काल' के लेखकों के शब्द-

प्रयोग का उदाहरण देकर वे कहते हैं- “हरिश्चंद्र काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे ही रूपों और शब्दों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृतभाषी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचक में पड़कर ही करते थे। उनकी लिखावट में न ‘उड्डीयमान’ और ‘अवसाद’ ऐसे शब्द मिलते हैं, न ‘औदार्य’, ‘सौकर्य’ और ‘मौर्ख्य’ ऐसे रूपा।”⁴¹

अरबी-फारसी के बहुतायत वाली हिंदी यानी उर्दू को वे हिंदी साहित्य की भाषा बनाने के हामी नहीं थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की भाषा में न केवल शब्दों बल्कि वाक्यविन्यास तक में उर्दूपन के घुसे होने को उन्होंने हिंदी के हित में नहीं माना। आचार्य शुक्ल की मान्यता है- “किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की परम्परा और संस्कृति से होता है। अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रवृत्ति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रंग-रूप, आचार-व्यवहार आदि का योग रहता है उसी प्रकार परम्परा से चले आते साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों में थोड़े-बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर रूप हजारों वर्षों से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रंग-रूप की भाषा गले से उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था।”⁴²

अरबी-फारसी के भी अप्रचलित या गूढ़ शब्दों के प्रयोग को वे ठीक नहीं मानते पर, यह खुले मन से स्वीकार करते हैं कि उर्दू ने खड़ी बोली को माँजा और जिन लेखकों को उर्दू का अभ्यास था, उनके गद्य के सौष्ठव की वे प्रशंसा करते हैं। हिंदी के आरम्भिक गद्यकारों में से एक इंशाअल्ला खाँ की भाषा के विषय में शुक्ल जी कहते हैं कि ‘आरम्भ काल के चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मटकीली मुहावरेदार और चलती

है।' और इसका कारण शुक्ल जी के अनुसार यह है कि 'खड़ी बोली उर्दू कविता में पहले बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दू वालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे।'⁴³ बालमुकुंद गुप्त की भाषा के विषय में वे लिखते हैं- "गुप्तजी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो, गुप्तजी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे इनकी हिंदी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी।"⁴⁴ खड़ी बोली को माँजने में, उसे अपने मुहावरे देने और प्रांजल चलता हुआ रूप देने में उर्दू की भूमिका वे स्वीकार करते हैं।

प्रबंधकाव्य की ही तरह उपन्यास, नाटक जैसे गद्य साहित्य में वे प्रसंगानुकूल और पात्रानुसार भाषा के प्रयोग को उचित मानते हैं। आचार्य शुक्ल में यह सजगता उनके आलोचना-कर्म के आरम्भ से ही देखने को मिलता है। 'द मॉडर्न रीव्यू' में 1907 में प्रकाशित पुस्तक समीक्षा में किन्हीं बाबू गोकुलानंद प्रसाद वर्मा के एक उपन्यास की समीक्षा में वे लिखते हैं- "काश् की पुस्तक की भाषा में किसी स्त्री की रचना की झलक होती! कहानी का बयान तो एक लड़की कर रही है पर भाषा इतनी पुरुषों वाली है कि वह छाप नहीं छोड़ती जो एक महिला की रचनाएँ अपनी खास शैली में छोड़तीं।"⁴⁵

नाटकों की भाषा में पात्रों के अनुरूप अलग-अलग तरह की भाषा-शैली या भाषा-भंगिमा की आवश्यकता पर अपने विचार रखते हुए वे कहते हैं- "नाटकों का प्रभाव पात्रों के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। श्रीहरिकृष्ण प्रेमी के कथोपकथन 'प्रसाद' जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त हैं। उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदयग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्मव्यंजक अनूठापन भी। 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करने वाले कई पात्र आ जाते हैं। प्रेमीजी के नाटकों में यह खटकने वाली बात नहीं मिलती।"⁴⁶ नाटक

में काव्योचित भावव्यंजना या चमत्कार लाने के लिए चित्रमयी या अतिरंजित भाषा का प्रयोग नाटक विधा के उद्देश्य को बाधित करता है। इस विषय में शुक्लजी का स्पष्ट मत है- “काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भावव्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थक्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है, केवल बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबाकर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जाएगी और सारा नाटकत्व निकल जाएगा।”⁴⁷

हिंदी के आरम्भिक उपन्यासकारों में हिंदी की विभिन्न शैलियों के अतिशयोक्तिपूर्ण प्रयोग करने की प्रवृत्ति दिखती है। प्रयोग के लिए प्रयोग की इस प्रवृत्ति को और इस कारण एक सामान्य साहित्यिक गद्यभाषा के हिंदी में स्थिर न होने के आरम्भिक स्थिति को शुक्ल जी प्रशंसनीय नहीं मानते। उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी के लेखन में कुछ खटकने वाली बातों में उनकी भाषा-शैली का जिक्र करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं- “एक और बात जरा खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मजाका। कुछ दिन पीछे उन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी-वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला। इस शौक से कुछ आगे-पीछे उन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवन चरित्र लिखा जो ‘सरस्वती’ (भाग 1, संख्या 2, 3, 4) में निकला। उर्दू जबान और शेर सखुन की बेढंगी नकल से जो असल में कभी-कभी गलत हो जाती है, उनके बहुत-से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है।”⁴⁸ साहित्यिक गौरव घटने का कारण उर्दू का प्रयोग नहीं बल्कि उसकी बेढंगी और गलत नकल है जिसे रेखांकित करते हुए शुक्ल जी ने आगे लिखा है- “गलत या गलत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया है। ‘मल्लिका देवी या बंग सरोजिनी’ में संस्कृतप्राय

समासबहुला भाषा काम में लाई गई है। इन दोनों प्रकार की लिखावटों को देखकर कोई विदेशी चकपकाकर पूछ सकता है कि 'क्या दोनों हिंदी हैं?' हम यह भी कर सकते हैं, इस हौसले ने जैसे बहुत-से लेखकों को किसी एक विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगों की भाषा को बहुत-कुछ डाँवाडोल रखा, कोई एक टेढ़ा सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।⁴⁹ इसी तरह अयोध्या सिंह उपाध्याय के उपन्यासों की भाषा पर शुक्ल जी की टिप्पणी है- "प्रसिद्ध कवि और लेखक पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भी दो उपन्यास ठेठ हिंदी में लिखे- 'ठेठ हिंदी का ठाट' (सं. 1956) और 'अधखिला फूल' (सं. 1964)। पर ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गईं, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं। उनकी सबसे पहले लिखी पुस्तक 'वेनिस का बाँका' में जैसे भाषा संस्कृतपन की सीमा तक पहुँची हुई थी वैसे ही इन दोनों में ठेठपन की हद दिखाई देती है। इन तीनों पुस्तकों को सामने रखने पर यही ख्याल पैदा होता है उपाध्याय जी क्लिष्ट, संस्कृतप्राय भाषा भी लिख सकते हैं और सरल ठेठ हिंदी भी। अधिकतर इसी भाषा वैचित्र्य पर ख्याल जम कर रह जाता है।"⁵⁰ इन दोनों उपन्यासकारों की भाषा पर शुक्ल जी की टिप्पणियों से स्पष्ट है कि **शुक्ल जी उपन्यासों को लेखक की भाषायी कौशल के प्रदर्शन की विधा नहीं मानते** और 'हम यह भी कर सकते हैं' की मनःस्थिति को लेखक की कमजोरी के तौर पर देखते हैं। उपन्यास की भाषा ऐसी हो कि उपन्यास का कथ्य उसके सामने दब कर न रह जाए। आगे चलकर कहानी की भाषा के संदर्भ में आलोचक नामवर सिंह ने भी यह राय प्रकट की कि गद्य की भाषा ने एक विशेष उत्तरदायित्व के साथ जन्म लिया और वह उत्तरदायित्व है कथ्य को पूर्णतः सम्प्रेषित करने के लिए अपने अस्तित्व का लोप। उपन्यास को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक जगत् की एक बड़ी शक्ति माना तथा समाज में विभिन्न वर्गों में पैदा हो रही प्रवृत्तियों के विस्तृत प्रत्यक्षीकरण तथा

आवश्यकतानुसार उन्हें ठीक दिशा देने में समर्थ विधा माना है। ऐसी बड़ी जिम्मेदारी को वहन करने वाली विधा में लेखक का उद्देश्य अपना भाषिक कौशल दिखाना या भाषा के साथ खिलवाड़ करना हो, इसका समर्थन आचार्य शुक्ल नहीं करते।

भाषा के इस-उस नमूने के प्रदर्शन के अलावा उपन्यास की भाषा का काव्यात्मक भावव्यंजनापूर्ण भाषणों से भरा होना भी शुक्ल जी के अनुसार उपन्यास के लिए ठीक नहीं जान पड़ता। उपन्यासों से काव्य के रंग के हटने तथा उपन्यास में 'यथातथ्यवाद' की प्रवृत्ति के साथ उसकी भाषा के अधिक व्यावहारिक व पात्रानुकूल होने को उन्होंने उपन्यास कला का निखार माना।

गद्य में निबंध को शुक्ल जी एक ऐसी विधा मानते हैं जहाँ लेखक अपना भाषा-कौशल प्रदर्शित कर सकते हैं और वह प्रशंसनीय बात हो सकती है। लेकिन कोरा प्रदर्शन यहाँ भी काम्य नहीं है। निबंधकार की भाषा और शैली के निजी वैशिष्ट्य से निबंध में रोचकता आती है, पर यह विशिष्टता विचारों की श्रृंखला से संबद्ध होकर आए, उसे तोड़े नहीं। निबंध के विषय में आचार्य शुक्ल की प्रसिद्ध उक्ति है- “यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।”⁵¹ हिंदी की गद्य विधाओं ने बहुत हद तक आधुनिक पाश्चात्य साहित्य से अपना लक्षण प्राप्त किया है। यह बात ध्यान में रखते हुए रामचंद्र शुक्ल गद्य की जिस भी विधा पर टिप्पणी करते हैं उसकी पाश्चात्य अवधारणा तथा पश्चिमी साहित्य में उसके विकास की दिशा की हिंदी साहित्य से तुलना भी करते हैं। निबंध पर टिप्पणी करते हुए भी वे लिखते हैं- “आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाए। व्यक्तिगत विशेषता का मतलब यह नहीं कि उसके

प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रृंखला रखी ही न जाए या जानबूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाए, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाए जो उनकी अनुभूति के प्रकृत वा लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जाएँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।”⁵² तमाशा करती हुई भाषा का क्या तात्पर्य होता है, शुक्ल जी उसे भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- “जहाँ नाना अर्थ-संबंधों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परम्परा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।”⁵³ निबंध में निबंधकार के लिए अपना भाषिक कौशल दिखाने का सबसे अधिक अवकाश मानते हुए भी शुक्ल जी यहाँ उसी भाषिक कौशल-प्रदर्शन को उचित मानते हैं जो अंततः अर्थ-गाम्भीर्य रखती हो। परंतु साथ ही शुक्ल जी ‘व्यास शैली’ के निबंधों को भी निबंध की उत्तम शैली नहीं मानते। निबंधकार की भाषा में प्रगल्भता, चटपटापन और कसावट न हो और इस प्रकार की भाषा-भंगिमा हो मानो मोटी बुद्धि के पाठक को समझाने के लिए एक ही बात को कई प्रकार से कहा जा रहा हो, यह भी ठीक नहीं।

कविता, नाटक, उपन्यास, निबंध किसी भी विधा की भाषा में कोरा शब्दाडंबर आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने ठीक नहीं माना है क्योंकि साहित्य का काम आम शिक्षित जनता तक विषयवस्तु को सम्प्रेषित करने का है, उसे शब्दों के जाल में उलझा कर रख देना नहीं। ऐसे में आलोचना जैसी विधा जिसका काम ही शुक्ल जी के अनुसार कवि के भावों को पूरी तरह समझने में पाठक की मदद करना है, उसकी भाषा में अगर साफगोई न हो, वह भाषा जरा भी काव्यात्मक या उलझी हुई हो तो आलोचना असफल होगी। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा की कमजोरी लक्ष्य करके वे लिखते हैं- “इस ढंग की समीक्षाओं में प्रायः भाषा

विचार में बाधक बनकर आ खड़ी होती है। लेखक का ध्यान शब्दों की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना, अपनी उक्ति के चमत्कार आदि में उलझा रहता है जिनके बीच स्वच्छंद विचारधारा के लिए जगह ही नहीं रहती।”⁵⁴

गद्य के गुणों पर आचार्य शुक्ल की महत्वपूर्ण टिप्पणी है- “शब्दालंकार केवल कविता के लिए प्रयोजनीय कहा जा सकता है। गद्य में उसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, गद्य में तो उसके और-और गुणों के अन्वेषण से ही छुट्टी नहीं मिलती। गद्य की श्रेष्ठता तो भावों की गुरुता और उसके प्रदर्शन प्रणाली की स्पष्टता और स्वच्छता पर ही अवलम्बित है; और यह स्पष्टता और स्वच्छता अधिकतर व्याकरण की पाबंदी और तर्कना की उपयुक्तता से संबंध रखती है। सारांश यह कि आधुनिक शैली के अनुसार गद्य में शब्द और अर्थ का ही विचार होता है, ध्वनि का नहीं।”⁵⁵ ध्वनि यानी शब्द का प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ, आचार्य शुक्ल के अनुसार गद्य की विशिष्टता नहीं है, गद्य में शब्द के वाच्यार्थ से ही अर्थ-ग्रहण होना चाहिए।

आचार्य शुक्ल के भाषा-विवेक पर नामवर जी का कहना है कि तमाम सहमतियों-असमतियों के बावजूद आचार्य रामचंद्र शुक्ल आज भी हमें बार-बार आकृष्ट करते हैं तो इसलिए कि “उनकी रस-दृष्टि अचूक थी। शायद इसका आधार था आचार्य रामचंद्र शुक्ल का भाषा विवेक। शायद ही कोई ऐसा लेखक हो जिस पर लिखते हुए रामचंद्र शुक्ल ने यह न लिखा हो कि उसके भाषा विवेक से ही उसका काव्य-विवेक मिला था।”⁵⁶

प्रस्तुत विवेचन के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल भाषावैज्ञानिक की-सी वस्तुनिष्ठता के साथ भाषा-मात्र के सामान्य अभिलक्षणों पर विचार करते हैं और उसके बीच से साहित्य में प्रयुक्त भाषा के विधावार विशिष्ट गुणों पर विचार

कर अपने सिद्धांत निर्मित करते हैं। भाषा उनके आलोचनात्मक चिंतन के केंद्र में है लेकिन वह जीवन-जगत के ऐतिहासिक और समकालिक संदर्भों से गहरे जुड़ी हुई है इसलिए रूपवादी आलोचकों की तरह ऑब्सेशन नहीं बनती।

3.2 हजारीप्रसाद द्विवेदी के भाषा संबंधी विचार

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एक सांस्कृतिक आलोचक हैं। वे कला, साहित्य आदि की समीक्षा मनुष्य जाति के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास के संदर्भ में करते हैं। भाषा-संबंधी उनके दृष्टिकोण और विचारों के मूल में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान है। भाषा की प्रकृति और कला तथा मानव-चेतना के संबंध में आचार्य द्विवेदी ने विशद चिंतन अपनी पुस्तक 'लालित्य तत्त्व' में किया है। 1962 में प्रकाशित इस पुस्तक में 'सौंदर्य-बोध की क्रमशः विकसित होने वाली' प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की चेतना के विकास और उसमें भाषा की भूमिका पर विचार किया गया है।

भाषा की परिभाषा देते हुए आमतौर पर कहा जाता है कि भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य अपने भावों को दूसरे मनुष्यों तक सम्प्रेषित करता है। भाषा की यह परिभाषा भाषा के केवल एक पक्ष या उसके एक प्रकार्य मात्र को बताता है। भाषा मनुष्य के भावों/विचारों के सम्प्रेषण का माध्यम भर नहीं है। भाषा मनुष्य की विशिष्ट प्राकृतिक मानसिक-शारीरिक क्षमता (फैकल्टी) है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने बाह्य परिवेश से प्राप्त सूचनाओं को ज्ञान के रूप में संश्लेषित करता है। भाषा मनुष्य की चेतना का आधार है। संज्ञा के रूप में चेतना का अर्थ है- ज्ञान, होश, याद, बुद्धि आदि तथा क्रियापद में चेतना का अर्थ होता है होश में आना, सावधान होना, बुद्धि-विवेक से काम लेना। ज्ञान, बुद्धि, स्मृति का आदि का संबंध बाह्य जगत से मनुष्य के मानस की निरंतर प्रतिक्रिया से है और

होश में आने या सावधान होने या बुद्धि-विवेक से काम लेने का संबंध बाह्य तथा आभ्यंतर पर मनुष्य के नियंत्रण से है। चेतना-सम्पन्न होने की और चेतने की क्षमता अन्य जीवों की तुलना में मनुष्य में अत्यधिक है और इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि **मनुष्य के पास जटिल संरचना वाली भाषा को रचने और उसका प्रयोग करने की क्षमता है।** विश्वप्रसिद्ध इजरायली लेखक तथा इतिहासकार युवाल नोआ हरारी कहते हैं कि जंतुओं के समक्ष वास्तविकता के दो स्तर होते हैं- एक तो उनका परिवेश जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी बाह्य तथ्यात्मक जगत कहते हैं तथा दूसरा है जंतुओं के आत्मनिष्ठ अनुभव अर्थात् दुःख, दर्द, भय, आनंद, उल्लास आदि। अन्य जंतुओं से इतर मनुष्यों के लिए वास्तविकता का एक तीसरा स्तर भी होता है जिसे हरारी इंटरसब्जेक्टिव रिएलिटी कहते हैं जिसके अंतर्गत ईश्वर, मुद्रा, सामाजिक नैतिकताएँ, नियम, राष्ट्र, व्यापारिक प्रतिष्ठान आदि आते हैं।⁵⁷ इस तीसरे स्तर की वास्तविकता का अस्तित्व मनुष्य की भाषा के बाहर कहीं नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि **मानव-भाषा वास्तविकता को परिभाषित करने के साथ-साथ उसकी रचना करने का भी साधन है।**

इतिहासकार अनुमान लगाते हैं कि आज से सत्तर हजार से लेकर तीस हजार वर्ष से पूर्व के बीच मनुष्य प्रजाति में संज्ञानात्मक क्रांति हुई अर्थात् मनुष्य प्रजाति में चेतना के लक्षण शुरु हुए। भाषा का विकास आदिमानव के उल्लासजनित संगीतात्मक नाद से माना जाता है जो चैतन्य होने की ओर अग्रसर मनुष्य की आरम्भिक आत्माभिव्यक्ति थी। इस संगीतात्मक नाद से भाषा की विभिन्न ध्वनियों को अलग-अलग पहचानकर मनुष्य ने बाह्य तथ्यात्मक जगत में व्याप्त पदार्थों के लिए पदों या नामों की रचना की। जैसे, ठक्-ठक् की ध्वनि से 'ठ' और 'क' ध्वनियों को अलगाना तथा इन्हें अलग-अलग ध्वनियों के रूप में चिह्नित कर सकना। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे विविक्तिकरण की प्रक्रिया कहते हैं।⁵⁸

विविक्ति का अर्थ है पार्थक्य या विभाग । संगीतात्मक ध्वनियों का वर्णों के रूप में विविक्तिकरण मानसिक चिंतन द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है । विविक्तिकरण के द्वारा अक्षर-मात्रिकाओं यानी भाषा के सबसे बुनियादी आधार वर्णों को अलगाने की प्रक्रिया मानव-चेतना विकास के आरम्भिक चरण में संभव हो सका । और फिर, “एक बार अक्षर मात्रिका के अधिगत और आयत्त हो जाने के बाद मनुष्य के सोचने-समझने और सर्जनात्मक कार्यों में प्रवृत्त होने में बड़ी तेजी आ गई। इस तेजी से आने वाली प्रवृत्ति का नाम सभ्यता की ओर उन्मुख होना है ।”⁵⁹

आचार्य द्विवेदी के अनुसार, सभ्यता का अर्थ है बाह्य तथ्यात्मक जगत से अधिकाधिक परिचय ।”⁶⁰ बाह्य तथ्यात्मक जगत यानी वह वस्तुनिष्ठ यथार्थ जगत जो मनुष्य के आत्मनिष्ठ अनुभवों से अप्रभावित जगत है तथा जो प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक मनुष्येतर प्राणी के लिए एक समान यथार्थ है, तथ्य है । हमसे बाहर जो प्रकृति है, विश्व है, ब्रह्माण्ड है तथा इनमें घटने वाली घटनाएँ हैं, वे सब बाह्य तथ्यात्मक जगत है । इस बाह्य तथ्यात्मक जगत के अधिकाधिक परिचय ने ही मनुष्य को इस काबिल बनाया कि वह अपने परिवेश तथा परिस्थितियों पर नियंत्रण स्थापित कर सके तथा अपने जीवन को लगातार सुरक्षित तथा समृद्ध बना सके । आचार्य द्विवेदी कहते हैं, “सभ्यता की ओर अग्रसर होते समय मनुष्य संगीत छोड़कर संगीत-विरहित भाषा प्राप्त करने के लिए अग्रसर हुआ था ।”⁶¹ क्योंकि, “संघर्ष की वृद्धि और सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता ने उसे संगीतात्मकता को छोड़कर गद्यात्मकता की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य किया ।”⁶² संगीतात्मक नाद से बनी छंदयुक्त लयात्मक भाषा आदिम मनुष्य के उल्लास व मांगल्य भाव की अभिव्यक्ति की भाषा थी । यह भाषा मनुष्य के कुछ सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति में कुछ हद तक सक्षम थी लेकिन बाह्य तथ्यात्मक जगत को समझने व उससे प्राप्त सूचनाओं

के व्यापक पैमाने पर विश्लेषण-संश्लेषण के लिए यह समर्थ नहीं थी। इसके लिए भाषा को गद्य का रूप लेना अवश्यम्भावी था।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार गद्य भाषा का वह रूप है जो दो प्रकार के अनुशासनों को मानकर चलती है- 1) बाह्य जगत के तथ्यों को, और 2) भाषा के व्याकरण और वाक्य-विन्यास संबंधी नियमों को। गद्य स्थूल बाह्य जगत से मनुष्य के आभ्यंतर को जोड़ने वाली भाषा है। गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है और यह प्रयोजन है अर्थ की स्पष्ट समझ तथा उसका सटीक संप्रेषण। आचार्य द्विवेदी कहते हैं- “अर्थ वस्तुतः बाह्य जगत में विद्यमान होते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क उनका बिम्ब ग्रहण करता है और उन बिम्बों के लिए किसी शब्द की रचना करता है और भाषा निरंतर अर्थानुगामिनी होती जाती है। जैसे-जैसे वह अर्थ-प्रधान होती जाती है, वैसे-वैसे उसमें गद्यात्मकता बढ़ती जाती है और छंद, राग और लय क्रमशः पीछे छूटते जाते हैं।”⁶³ किसी भी विकसित भाषा के साहित्य में यह विकास-क्रम हम पाते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का यह भाषा-चिंतन विश्वस्तरीय है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक क्रिस्टोफर कॉडवेल ने भी भाषा तथा सभ्यता के विकास का अंतर्संबंध उसी प्रकार रेखांकित किया है, जैसे द्विवेदीजी ने। ‘विभ्रम और यथार्थ’ नामक अपनी पुस्तक में कॉडवेल ने लिखा है- “कविता मानव-मन के प्राचीनतम कलात्मक व्यापारों में से एक है। जहाँ इसे किसी जाति की आरम्भिक साहित्यिक कला की पृथक उपज के रूप में नहीं पाया जा सकता, वहाँ इसका कारण यह है कि यह समूचे वाङ्मय अर्थात् इतिहास, धर्म, जादू और यहाँ तक कि कानून के भी आम माध्यम के साथ घुली मिली रहती है। जहाँ किसी सभ्य जाति का आरम्भिक साहित्य बचा रह गया है, वहाँ इसे लगभग पूरी तरह काव्यात्मक रूप में अर्थात् लयबद्ध रूप में और छन्दबद्ध रूप में ही पाया जाता है...यह कविता किसी

आधुनिक अर्थ में शुद्ध 'कविता' नहीं है। हम इसे आम जबान का ओजपूर्ण रूप कह सकते हैं।...पहले यह ओजपूर्ण भाषा लगभग समूचे परम्परागत साहित्य पर एकाधिकार जमाए रहती है पर सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह अपने एक छोटे-से खाने में सिमट कर रह जाती है।”⁶⁴ ओजपूर्ण भाषा यानी लय-राग-छंद युक्त भाषा जो कभी मनुष्य जाति के समूचे ज्ञान और अनुभव भंडारण और सम्प्रेषण का माध्यम थी, कालांतर में उसके उपयोग का क्षेत्र सिमटता गया और अब वह काव्यात्मक भाषा कविता के भी एक बहुत सीमित क्षेत्र में प्रयुक्त होती है। सवाल उठता है कि ऐसा क्यों होता है? कॉडवेल कहते हैं- “सभ्यता के विकास के साथ भाषा का विभेदन और विशेषीकरण निश्चय ही सभी सभ्य कार्यों का चारित्रिक गुण बन जाता है। सभ्यता का विकास श्रम के निरंतर विभेदन से हुआ है।”⁶⁵ सभ्यता का विकास बल्कि विकास-मात्र का बुनियादी गुण है विभेदीकरण तथा विशेषीकरण। प्रकृति में जीवों के विकास का क्रम हो, भाषा में सतत संगीतात्मक नाद से विभिन्न ध्वनियों का विभेदीकरण हो, समाज में श्रम का विभेदीकरण और इसके फलस्वरूप विभिन्न कामों में विशेषज्ञता का उदय हो, ज्ञान के क्षेत्रों में लगातार विभेदीकरण और विशेषीकरण विकास का ही परिणाम है। इस विकास को संभव करने में तथा इसके मानव-समाज पड़ने वाले प्रभाव को व्यक्त करने के लिए (साहित्य रचना के लिए) भाषा का गद्यात्मक होते जाना आवश्यक शर्त है।

आचार्य द्विवेदी बिल्कुल सही बात कहते हैं कि “जितनी ही सामाजिक व्यवस्था जटिल से जटिलतर होती जाती है, उतना ही प्रकाशन-भंगिमा में बाह्य-जगत की व्यवस्था का मिश्रण अधिकाधिक मुखर होता जाता है।”⁶⁶ प्रकाशन-भंगिमा यानी भाव-प्रकाशन की भाषा में बाह्य-जगत की व्यवस्था के मुखर होने से अर्थात् तथ्यों तथा तर्कों की मात्रा बढ़ने से भाषा उसी अनुपात में गद्यात्मक होती जाती है। क्योंकि तर्क, भाषा में

व्यवस्था व स्पष्टता की माँग करता हैं जिससे वह सरलता से शब्दबद्ध हो सके तथा सहजता से सम्प्रेषित हो सके ।

हम जानते है कि चेतना के विकास से सभ्यता का विकास हुआ और सभ्यता के विकास ने चेतना को अधिकाधिक विकसित किया । मनुष्य बाह्य परिवेश पर नियंत्रण स्थापित करने के साथ ही साथ अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के प्रति, व्यक्तिगत स्वाधीनता के प्रति भी सचेत होता गया । कॉडवेल इस प्रक्रिया को भाषा के लयात्मक से गद्यात्मक होते जाने की प्रक्रिया से जोड़ते हैं । **गद्यात्मक भाषा को वे लयशून्य भाषा कहते हैं ।** लययुक्त भाषा को वे सामूहिक भावना की भाषा कहते हैं जिसका उद्देश्य था उस आंतरिक शक्ति का, देवताओं के साथ सम्पर्क का एहसास दिलाना जो उसे आश्वस्त करता था । इसके विपरीत लयशून्य भाषा को मनुष्य ने अपने नितांत दुनियावी प्रयोजनों, यथा- अपने व्यक्तित्व के विस्तार, अपने पड़ोसियों पर इसकी छाप छोड़ने, पलायन-पड़ाव या हमले के समय उनके संकल्पों से अपने संकल्पों को मेल में लाने की आवश्यकता के कारण ही गढ़ा । आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है । हम देखते हैं कि मानव-सभ्यता का विकास प्रयोजनों के विस्तार का विकास है । अतः **भाषा का लगातार गद्यात्मक होते जाना तथा लयात्मक भाषा का क्षेत्र सीमित होते जाना सभ्यता के विकास का परिणाम है और इसकी आवश्यक शर्त भी ।**

मनुष्य के सभी कलात्मक प्रयासों को आचार्य द्विवेदी भावावेग की अभिव्यक्ति की उद्दाम इच्छा से जोड़ कर देखते हैं ।⁶⁷ भावाव्यक्ति की अभिव्यक्ति के विकास-क्रम में भाषायी अभिव्यक्ति का स्थान निर्धारित करते हुए वे लिखते हैं- “...आदि-मानव की मूर्त कल्पना पहले मानसी रही होगी, बाद में उसे नृत्य और संगीत में और, और भी बाद में मिथक और वाक् में उसे सम्मूर्तित करने का प्रयास किया गया होगा ।”⁶⁸

आचार्य द्विवेदी का मानना है कि कला के क्षेत्र में मनुष्य के वे ही प्रयास गिने जाएंगे जिनके द्वारा मनुष्य कुछ 'अर्थों' की व्यंजना करना चाहता है। मूर्तियों, चित्रों, संगीत और शब्दों के माध्यम से मनुष्य अर्थों की व्यंजना का ही प्रयास करता है। आचार्य द्विवेदी इन सब माध्यमों को व्यापक अर्थ में 'भाषा' कहते हैं- "(मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य आदि) सभी किसी लक्ष्यीभूत श्रोता या द्रष्टा के चित्त में कुछ अर्थ प्रेषण करते हैं। प्रेषण-सामर्थ्य के कारण ही इन्हें व्यापक अर्थ में भाषा कहा गया है।"⁶⁹

आचार्य द्विवेदी भाषा में तथा सभी कलाओं में 'अर्थ प्रेषण' की क्षमता को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं। अर्थ-प्रेषण ही उनके यहाँ साहित्य के भी मूल्यांकन की सर्व-प्रमुख कसौटी है। किसी खास तरह की शब्दावली, शैली या भंगिमा के वे आग्रही नहीं हैं। साफ शब्दों में वे कहते हैं- "कोई नैतिक मूल्य अंतिम नहीं है, कोई शिल्प विधि सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, कोई अभिव्यक्ति पद्धति सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकती।"⁷⁰ तब मूल्य-निर्णय का एक ही संगत आधार वे मानते हैं 'अर्थ प्रेषण' को। भाषा की कारीगरी को नहीं उसकी संप्रेषणीयता को, शैली की सोदेश्यता को वे साहित्यकार की क्षमता की कसौटी मानते हैं। अर्थ पर इतना जोर है तो आचार्य द्विवेदी 'अर्थ' का अर्थ भी स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार अर्थ का आशय है मानव का निश्चित उद्देश्य।⁷¹

पुराने भारतीय आचार्यों की शैली में एक तरफ वे कहते हैं कि 'वाक्-तत्त्व मनुष्य की सहज सर्जना शक्ति का निदर्शक रूप है'⁷¹ तो दूसरी तरफ आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषाविदों की तरह यह भी मानते हैं कि 'मनुष्य की समूची तर्क सरणी भाषा की देन है।'⁷³ इस तरह भाषा को न तो वे केवल साधन मानते हैं और न ही पूरी तरह नियामक। कहने का मतलब यह कि आचार्य द्विवेदी मनुष्य की सर्जना शक्ति के भाषा से इतर अस्तित्व को मानते हैं और कहते हैं कि भाषा उस सर्जना शक्ति की निदर्शक है, यानी उसे प्रकट करती

है या दर्शाती है। परंतु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि भाषा मनुष्य की तर्क-पद्धति का निर्माण करती है, इस प्रकार उसकी बुद्धि को, चेतना को एक खास आकार-प्रकार देती है। द्विवेदी जी भाषा और सभ्यता के विकास के आपसी संबंधों पर भी विस्तार से विचार करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य जाति की सभ्यता का विकास बाह्य जगत अर्थात् प्रकृति से संघर्ष तथा उस पर क्रमशः नियंत्रण के द्वारा हुआ है। यह नियंत्रण बाह्य जगत के विशद ज्ञान और हाथ से बनाए यंत्रों के माध्यम से मनुष्य ने किया—संघबद्ध होकर, सामूहिक रूप से। इस संघबद्धता या एकता के लिए और ज्ञान के लिए भाषा का लगातार विकसित होना और तर्कसंगत होना वे आवश्यक मानते हैं।⁷⁴ यही कारण है कि **आचार्य द्विवेदी भाषा या शैली के विषय में किसी भी प्रकार के जड़ नियम के आग्रही नहीं हैं।**

हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने लेखन में भारतीय प्राचीन चिंतन तथा परम्परा के संदर्भों व प्रसंगों का प्रयोग बहुतायत से करते हैं, परंतु अपने समय के राजनीतिक, सामाजिक चिंतन के साथ ही भाषाशास्त्रीय चिंतन में चल रही वैश्विक गतिविधियों में भी उनकी रुचि रही और अपने सांस्कृतिक चिंतन में उन्होंने उनका प्रयोग भी किया है। वे लिखते हैं- “विभिन्न अर्थों में संकेतित कुछ शब्द या अक्षर समवाय हैं, जो केवल एक व्यक्ति के नहीं बल्कि समूचे समाज में समान रूप से गृहीत होते हैं।...ये प्रतीकात्मक शब्द आपस में व्याकरण और वाक्य विन्यास की सुगठित व्यवस्था द्वारा संघटित होकर भाषा का रूप ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि से ये शब्द मनुष्य द्वारा क्रमोद्भाविता और समाज द्वारा सर्वात्मना स्वीकृत स्वतंत्र व्यवस्था (व्याकरण, वाक्य विन्यास) के अधीन हैं। दूसरी ओर इनके द्वारा अभिव्यक्त अर्थ बाह्य (या आंतर) जगत की प्रकृति-प्रदत्त स्वतंत्र व्यवस्था के अधीन है। शब्द-प्रतीकों द्वारा प्रक्षेपित अर्थ (पदार्थ) दोनों स्वतंत्र व्यवस्थाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करके ही सार्थक

बनते हैं।”⁷⁵ भाषा की संरचना संबंधी ये विचार फर्डिनेंड डी सोस्यूर के ‘लैंग’ (langue) व ‘परोल’ की अवधारणा के करीब है।

परंतु आचार्य द्विवेदी भाषावैज्ञानिक नहीं बल्कि साहित्यकार हैं अतः भाषा की इस व्यवस्था को मानते हुए वे व्यवस्था के अतिक्रमण की बात भी कहते हैं। वे लिखते हैं- “‘अग्निना सिंचति’(आग से सींचता है) व्याकरण और वाक्य रचना की दृष्टि से पूर्णतः ठीक है, पर बाह्य जगत के ‘आग’ पदार्थ और ‘सींचना’ क्रिया के साथ सामंजस्य न होने से निरर्थक है। मजेदार बात यह है कि भाषा की इस सीमा की जानकारी होते हुए भी कभी-कभी भाषा में इस प्रकार के अनमिल प्रयोग इसलिए किए जाते हैं कि वह अत्यधिक सार्थक बन सके! प्रयोजन के अत्यधिक दबाव के भीतर से प्रयोजनातीत की व्यंजना भी भाषा का ही काम है।”⁷⁶

भाषा की प्रयोजनीयता से प्रयोजनातीत भाषा की ओर अपने चिंतन को बढ़ाते हुए द्विवेदी जी काव्य-भाषा की बात करते हैं। काव्य में भाषा का जैसा प्रयोग होता है उसे वे ‘प्रयोजनातीत भाषिक प्रयोग’ कहते हैं। उनके अनुसार- “भाषा सब कहाँ कह पाती है? आज भी हम भावावेश की अवस्था काकु और स्वराघात के तारतम्य के अनुसार कह जाते हैं। हाथ घुमाकर, मुँह बनाकर, आँखों की विशिष्ट भंगियों के द्वारा हम अनकही कहने की कोशिश करते हैं।...छंद, लय, सुर द्वारा हम भाषा में उसी अकह को कहने की शक्ति भरते हैं। कविता मनुष्य की अंतःस्थित सहजात भावधारा और बाह्य जगत की वास्तविकता के व्याकुल संघर्ष की उपज है। कविता समस्त कलाओं की जननी है। कविता आदिम है। पदार्थ से पद का महत्व उसमें कम नहीं है, कुछ अधिक ही है। इसीलिए वह अनुवादित नहीं हो पाती। पदार्थ का व्याकरणसम्मत व्यवस्थापन उसे दरिद्र ही बनाता है।”⁷⁷ ‘अर्थ’ को भाषा का तथा मनुष्य की सभी कलाओं का प्राणतत्त्व मानते हुए भी वे काव्य में

‘पद’ का महत्व ‘पदार्थ’ (पद का अर्थ) से अधिक मानते हैं। लेकिन अपने स्वभाव के अनुकूल इस बाद में निहित अतिवाद को संतुलित करते हुए वे लिखते हैं- “निस्संदेह कविता में शब्द मुख्य है, उसमें पदार्थ से अभिन्न बनने की रहस्यमयी शक्ति है। यह आदिम प्रवृत्ति कविता की एक मुख्य विशेषता है, किंतु अर्थ विरहित काव्य संगीत मात्र है।”⁷⁸

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे आलोचक हैं जो आलोचना में बुद्धि से अधिक महत्व ‘सहज बोध’ (intuition) को देते हैं। किसी भी रचना के एक-एक तत्व का अलग-अलग पोस्टमार्टम करने के वे हिमायती नहीं हैं बल्कि रचना के समग्र जीवंत प्रभाव को ग्रहण करने के हामी हैं। रवींद्रनाथ टैगोर के नाटक ‘डाकघर’ का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं- “हमलोग भूल जाते हैं कि बुद्धि से भी बढ़कर हमारे पास एक चीज है, सहज बोध। क्या हुआ अगर ‘डाकघर’ के प्रत्येक पात्र का अर्थ समझ में नहीं आया? देखो चीज सुंदर हुई है या नहीं, हृदयग्राही हुई है या नहीं? फूल की प्रत्येक पंखुड़ी नोचकर उसका गुण-अवगुण जानने का नाम सहृदयता नहीं। विदग्धता वस्तु के विच्छिन्न अंगों से रस नहीं ग्रहण करती।”⁷⁹ जिस दौर में हजारीप्रसाद द्विवेदी यह बात कह रहे थे उसी दौर में यूरोप और अमेरिका में आकार ग्रहण कर रही नयी समीक्षा पद्धति और रूस में प्रचलित रूपवाद ‘वस्तु के अंगों’ को विच्छिन्न करके, फूल की एक-एक पंखुड़ी को नोचकर उसकी बनावट को वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयास कर रहे थे। आचार्य द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि पश्चिम की आलोचना-दृष्टि के बरक्स भारतीय चिंतनधारा का प्रतिनिधित्व करती है। आचार्य द्विवेदी का भाषा-संबंधी दृष्टिकोण भी उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण के ही समान समुच्चयवादी है। इस बात को उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में लक्षित किया जा सकता है।

कबीर की भाषा के विषय में वे लिखते हैं- “वे (कबीर) तीन प्रकार की बातें लिखते थे : ज्ञानी और साधकों को लक्ष्य करके, जनसाधारण के लिए और अपनी मौज में। तीनों में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, छंदशास्त्र और अलंकार के ज्ञान से भी वंचित थे। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था; फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची से ऊँची चीज प्राप्य है।...संस्कृत के ‘कूपजल’ को छुड़ाकर उन्होंने भाषा के बहते नीर में सरस्वती को स्नान करवाया। उनकी भाषा में बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।”⁸⁰ स्पष्ट है कि द्विवेदी जी कबीर की भाषा का संरचनात्मक या वैज्ञानिक अध्ययन वे नहीं कर रहे बल्कि उनकी उक्तियों के समग्र प्रभाव के आधार पर टिप्पणी कर रहे हैं।

इसी तरह तुलसीदास की भाषा के संबंध में उनका कहना है- “भाषा की दृष्टि से भी तुलसीदास की तुलना हिंदी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती।...उनकी भाषा में भी एक समन्वय की चेष्टा है। तुलसीदास की भाषा जितनी ही लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। उनमें संस्कृत का मिश्रण बड़ी ही चतुरता के साथ किया गया है। जहाँ जैसा विषय होता है, भाषा अपने आप उसके अनुकूल हो जाती है। तुलसीदास के पहले किसी ने इतनी मार्जित भाषा का उपयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने में तुलसीदास कमाल करते हैं। उनकी विनय पत्रिका में भाषा का जैसा जोरदार प्रवाह है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती है वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडराकर प्रतिपाद्य सिद्धांत को ग्रहण कर उड़ जाता है।”⁸¹ एक सहृदय की भाँति आचार्य द्विवेदी तुलसीदास की भाषा की प्रशंसा करते हैं, पाठक पर उस भाषा के प्रभाव को काव्यात्मक शैली में ही बताते हैं। ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’ और

‘हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास’ में पुराने हिंदी कवियों की भाषा पर इसी तरह की प्रभाववादी टिप्पणियाँ हैं। कवि की भाषा जैसी है, वैसी क्यों है, इसका विश्लेषण वे नहीं करते। इन पुस्तकों में ऐसा कर सकने का अवकाश भी नहीं है। परंतु जब वे किसी कवि विशेष पर समग्र पुस्तक लिखते हैं तब उसकी भाषा पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

‘सूर साहित्य’ में सूरदास की भाषा-शैली पर विचार उन्होंने बहिरंग परीक्षा के अंतर्गत किया है। बहिरंग परीक्षा को अनुचित मानते हुए वे कहते हैं- “एक बार हम भक्त सूरदास को जहाँ का तहाँ छोड़ देना चाहते हैं। केवल कवि सूरदास की चर्चा—सो भी बहिरंग की चर्चा—अनुचित जरूर है, पर इस बीसवीं शताब्दी के लेखक को इस अनौचित्य की सीमा के भीतर प्रवेश करना आवश्यक हो गया है।”⁸² द्विवेदी जी कवि की भाषा-शैली की चर्चा को बीसवीं शताब्दी का आलोचनात्मक ट्रेंड मानते हैं अतः यह चर्चा करते हुए मध्य युग के साहित्य की बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक परिदृश्य से तुलना भी करते हैं। इसी तुलना के क्रम में मध्य युग और अपने वर्तमान युग के साहित्य की एक विभाजक रेखा पर ‘भाषा और भाव’ के संबंध पर विचार करते हुए चर्चा करते हैं- “अधुनातन साहित्य वस्तुवाद का पुजारी है। वह सब ओर से natural या real (स्वाभाविक या वास्तव) होना चाहता है। और क्षेत्रों में नाना क्षेत्रों का विवाद रह सकता है पर भाषा और भाव में वह निश्चय ही real होगा। एक मजदूर की बातों में वह केवल मजदूर की प्रकृति, पहुँच और रचना भर को ही ध्यान में नहीं रखेगा, उसका उच्चारण, उसकी व्याकरण संबंधी गलतियों और मुहावरों की भूल भी ज्यों की त्यों रख देगा। मध्य युग के संस्कृत नाटकों में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ी थी, पर वह एक सीमा तक आकर रुक गई। आज का साहित्य रुकने का नाम नहीं जानता, उसे केवल आगे बढ़ना मालूम है—निरंतर आगे बढ़ना।”⁸³ आगे वे कहते हैं-

“संस्कृत भाषा का एक शब्द है ‘भाव’; अर्थ है, that, what is—जो है!’ यही ‘that, what is’ आज के साहित्य की प्रधान बात है। परंतु भाव कहाँ का? भारतीय पंडितों का कहना है- भीतर का। ऊपरी आवरण चाहे जैसा हो, देखो उससे भीतर की चीज स्पष्ट हुई है या नहीं? गोपियों की भाषा गोपियों के अनुरूप है या नहीं—इससे कुछ आता-जाता नहीं। योग-मार्ग के उपदेशक उद्धव की भाषा में दार्शनिक गम्भीरता है या नहीं—इस चिंतन की आवश्यकता नहीं। केवल देखो, उन्होंने हृदय के जिस भाव को छूना चाहा था उसे छू पाये हैं या नहीं। अगर छू पाये हैं, काम हो चुका—‘भाव अनूठो चाहिए भाषा कोउ होया।’ सूरदास की भाषा का लक्ष्य उसी भाव को छूना है, वह आलंकारिक भी है, सादी भी है, चित्रमय भी है, पर है सर्वत्र भाव की अनुगामिनी। वह real और unreal से बहुत ऊपर है।”⁸⁴ आधुनिक साहित्यकार का आदर्श मध्यकालीन हिंदी साहित्यकार के आदर्श से अलग है, अतः कथा में भाषा की बारीकियों पर ध्यान भी दोनों का भिन्न-भिन्न प्रकार का है। आधुनिक साहित्य वर्गों की विशेषताओं के प्रति सजग है और दुनियावी पाठक को भी उसके प्रति सजग करने के लिए लिखता है, वहीं पुराने साहित्यकार आमजन से बहुत ऊपर के श्रोता के लिए लिखते रहे हैं—वह ईश्वर हो या सामंता। द्विवेदी जी दोनों युगों के साहित्य के अंतर को पकड़ते हुए भी, अंतर के कारण को स्वीकार नहीं करते इसलिए पुराने साहित्य के भाषिक व्यवहार का पक्ष लेते दिखते हैं।

सूरदास की भाषा के काव्यांग पर विचार करते हुए आचार्य द्विवेदी सूरदास के कवि-व्यक्तित्व से बात आरम्भ करते हैं- “सूरदास तीन हैं—कवि और भक्त, केवल भक्त और कथा-गायक। जहाँ प्रेम का प्रसंग आता है वहाँ सूरदास कवि और भक्त हैं; जहाँ आत्म-निवेदन का वेग तीव्र रहता है वहाँ वे भक्त हैं; और ब्रज की प्रेम-लीला के बाहर सर्वत्र वे कथागायक हैं। तीसरे सूरदास में कवि सूरदास का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता, पर भक्त

सूरदास उसमें अनमने भाव से बैठे रहते हैं। इस तृतीय श्रेणी के सूरदास मानों अपने स्थान से च्युत हो गए हैं, अपने क्षेत्र से निर्वासित हो गए हैं। मानो ब्रज के बाहर की लीलाओं को गाते समय वे कहते कुछ और रहते हैं, सोचते कुछ और। इस गानों के पीछे से अस्पष्ट-सी ध्वनि यह निकलती रहती है, ‘गा लो भाई, यह भी भगवान की लीला है, अच्छा नहीं लगता तो क्या है, घी का लड्डू टेढ़ा भी भला।’ इसरी तीसरी श्रेणी के सूरदास की भाषा फीकी-सी मालूम होती है। वह व्याकरण की दृष्टि से उतनी-ही शुद्ध भाषा हो सकती है, जितनी पहली या दूसरी श्रेणी की, परंतु उसमें वह प्रवाह कहाँ।”⁸⁵ स्पष्ट है कि द्विवेदी जी काव्य-भाषा का औचित्य केवल व्याकरण-सम्मत होने भर से नहीं मानते। काव्य की भाषा में सौंदर्य उत्पन्न होने में वे कवि की तन्मयता, काव्य-वस्तु से उसके मानसिक लगाव का संबंध वे स्वीकार करते हैं।

कवि की भाषा के उत्कर्ष पर बात करने से पहले वे कवि के उद्देश्य तथा दुनियावी प्रयोजन के लिए लिखे के बीच के भेद को बताते हैं, गद्य और पद्य के भेद पर टिप्पणी करते हैं- “गद्य और पद्य में अंतर यह है कि गद्य का लेखक स्वतंत्र रहता है, पद्य का परतंत्र। गद्य लेखक चाहे जितने शब्दों को और चाहे जितनी मात्राओं को काम में ला सकता है, पर पद्य का लेखक कुछ अक्षरों और मात्राओं से अधिक या कम का व्यवहार नहीं कर सकता। गद्य का लेखक दुनियावी प्रयोजनों को लक्ष्य करके लिखता है, उसकी पराजय उस स्थान पर है जहाँ वह उस प्रयोजन को प्रकट करने के लिए कम शब्दों का प्रयोग करके अस्पष्ट कर दे या अधिक शब्दों का प्रयोग करके निरर्थक। पद्य का लेखक यदि दुनियावी प्रयोजन को ही लक्ष्य में रखता है (जैसे वैद्यक और ज्योतिष आदि के श्लोक रचयिता), तो वह एक व्यर्थ बंधन स्वीकार करता है। परंतु वह दुनियावी प्रयोजन से ऊपर उठ जाए तो कवि हो जाता है।”⁸⁶

रचनाकार के उद्देश्य के आधार पर गद्य और पद्य का सम्यक अंतर स्पष्ट करने के बाद द्विवेदी जी कवि के लक्ष्य और काव्यभाषा से उस लक्ष्य का संबंध के विषय में कहते हैं- “...जिसको लेकर दुनिया का कारबार चल रहा है वह अकवि का लक्ष्य है, कवि का लक्ष्य उससे कहीं ऊपर है। औरों के लिए जो चीज नितांत निष्प्रयोजन है, कवि उसी मामूली-सी चीज से एक असीम वस्तु की ओर संकेत करता है...कवि की भाषा का उत्कर्ष देखना हो तो देखना चाहिए कि वह कितने कम शब्दों में, कितनी छोटी सीमा में बैठकर, किस असीम की ओर इशारा कर सका है। ‘काव्य-प्रकाश’ के शब्दों में उसके वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ कितना अतिशायी हुआ है।”⁸⁷ द्विवेदी जी काव्यभाषा की उत्कृष्टता का आधार उसकी व्यंजना शक्ति को मानते हैं। अभिधा को वे उत्तम काव्य नहीं मानते। कवि की प्रतिभा वे केवल इस बात में नहीं मानते कि उसने दुनिया को कैसे देखा है बल्कि उसके इस भाषिक कौशल में भी मानते हैं कि कितने कम शब्दों में अर्थ के कितने विस्तृत और गहरे स्तर वह उत्पन्न कर सका है।

काव्यभाषा की अन्य विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं- “काव्य की भाषा का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है उसका चित्रमय होना। साधारण मनुष्य जिस बात को नाना भावभंगियों, व्याख्याओं और संकेतों का सहारा लेकर भी स्पष्ट नहीं कर पाता, कवि उसे बड़ी आसानी से एक साधारण-सी भंगी में प्रकट कर देता है।”⁸⁸ काव्यभाषा में व्यंग्यार्थ गुण के अलावा वे चित्रमयता को भी आवश्यक मानते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक कविता या आधुनिक साहित्य पर अलग से पुस्तक लिख कर बहुत विचार नहीं किया है परंतु साहित्येतिहास की अपनी पुस्तकों में प्रसंगवश उन्होंने आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियों की ओर सूत्रात्मक रूप से बात रखी है। आधुनिक कविता की भाषा पर भी इसी सिलसिले में कुछ विचार रखे हैं जो पुरानी

काव्यभाषा से तुलना के ही रूप में हैं। वे लिखते हैं- “दो कारणों से बहुत हाल में कविता की भाषा और शैली में भी परिवर्तन हुआ है। एक विषय को जब अनासक्त और तद्रत भाव से देखा जाता है तब स्वभावतः ही भावुकता का स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक की भाँति गद्यमय भाषा लिखने लगता है।”⁸⁹ आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान की उन्नति हुई तो मनुष्य बाहरी दुनिया के साथ अपने अंतर्मन को भी तटस्थ भाव से देख सकने के योग्य हुआ। आधुनिक युग में ही टी.एस. इलियट कह सके कि ‘कलाकार जितना ही सम्पूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगने वाले प्राणी और रचने वाली मनीषा का पृथक्त्व होगा।’ (The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.)⁹⁰ द्विवेदी जी ने आधुनिक रचनाकार के मानस में आए इस परिवर्तन को काव्यभाषा के स्तर पर ठीक-ठीक समझा और पकड़ा है। कविता आधुनिक युग में भी ‘भोगने वाले प्राणी’ के भोगे हुए को अभिव्यक्त करने का माध्यम है। परंतु अब रचनाकार भोगे हुए का प्रलाप नहीं करता, उससे अलग होकर ‘तद्रत’ तथा ‘अनासक्त’ रूप से उसका विश्लेषण करता है। यही कारण है कि उसकी भाषा प्रगीतात्मक न होकर गद्यवत होती है।

आधुनिक कविता की भाषा के विषय में आचार्य द्विवेदी यह भी मानते हैं कि कवि केवल अपने युग के विकास के अनुरूप अनायास गद्यवत भाषा नहीं लिखता बल्कि पाठक को चौंकाने के लिए जानबूझ कर ऐसा करता है। वे लिखते हैं- “विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव कराने के लिए कवि लोग जान-बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करते हैं, जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उसपर से प्राचीनता के संस्कार झड़ जाएँ। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी वक्रोक्तियों का व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं, अद्भुत भी जँचें।”⁹¹

आधुनिक काव्यभाषा के स्वरूप के विषय में सूत्रात्मक रूप से विचार करने और वह जैसी है, वैसी क्यों है, इसकी ओर संकेत करने का बाद आचार्य द्विवेदी उसके प्रभाव की समीक्षा भी सूत्रात्मक ढंग से करते हुए कहते हैं- “आधुनिक कविता की भाषा पर विचार करते हुए जो बात सबसे अधिक उल्लेख-योग्य है, वह यह है कि अत्यधिक प्रचारित व विज्ञापित होने पर भी वह अधिकांश में हिंदी जानने वाले पाठकों के बहुत नजदीक नहीं आ सकी है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि कवियों की प्रेरणा अधिकांश में विदेशी माध्यम के द्वारा आती है और जो शास्त्र आधुनिक युग के मनुष्य को प्रभावित कर रहे हैं उनकी बहुत कम चर्चा हिंदी भाषा में हुई है।”⁹² एक युग की काव्यभाषा बहुत हद तक कवि और पाठक के संस्कारों की तारतम्यता पर भी निर्भर करती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी इस बात को समझ रहे थे कि उनके युग की कविता की भाषा गद्यवत होने पर भी, बहुत अधिक प्रचारित और विज्ञापित होने पर भी आम पाठक की रुचि से दूर है तो इसका कारण यही अंतर है। पर इसका मतलब यह भी नहीं कि पाठक के लिए वह काव्यभाषा हमेशा दूर की वस्तु ही रहेगी। आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि जिन शास्त्रों से कवि का मानस प्रभाव ग्रहण कर रहा है, उनकी चर्चा हिंदी भाषा में बढ़े और पाठक उन शास्त्रों से परिचित हो तो यह समस्या हल हो सकती है।

3.3 रामविलास शर्मा के भाषा संबंधी विचार

डॉ. रामविलास शर्मा ने भाषा और हिंदी भाषा के सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक पक्षों पर बहुत लिखा है। तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो हिंदी आलोचकों में भाषा के सभी पक्षों के प्रति सर्वाधिक रुचि और विचार-विमर्श रामविलास शर्मा के यहाँ दिखता है। वे मानते हैं कि भाषा-संबंधी किसी भी समस्या का विवेचन मानव-समाज के उद्भव और विकास के प्रसंग में ही संभव है।⁹³ अतः भाषा संबंधी

उनके चिंतन के आयाम भाषा वैज्ञानिक पहलुओं से लेकर विश्वस्तर की राजनीति से जुड़ते हैं।

यह शोध-कार्य भाषा के साहित्यिक पक्ष से संबंधित है, अतः डॉ. शर्मा के भाषिक चिंतन के इसी पक्ष पर चर्चा यहाँ होगी। आधुनिक साहित्यिक आलोचना में कृति की भाषा पर या शिल्प पर केंद्रित समीक्षा मुख्यतः उन समीक्षकों द्वारा हुई जो कुछ हद तक या पूर्णतः रूपवादी थे। दूसरी तरफ एक ऐसी समाजशास्त्रीय समीक्षा भी हिंदी में पनप रही थी जो साहित्य को कलापक्ष और समाज पक्ष के दो विपरीत ध्रुवों के रूप में देखता और दिखाता था। इन दोनों ही आलोचना-पद्धतियों के विरोध में डॉ. रामविलास शर्मा की साहित्यिक आलोचना विकसित होती है। कृति के भाषिक पक्ष को कला पक्ष के अंतर्गत और विषय-वस्तु को सामाजिक पक्ष के अंतर्गत बाँट कर विचार करने की पद्धति को डॉ. शर्मा उचित नहीं मानते और न ही दोनों पक्षों को पूर्णतः एक ही चीज मानते हैं। उनका कहना है-

“कृत्सित समाजशास्त्र के लिए कलापक्ष और समाज पक्ष में भेद होता है।... यह द्वैत भावना तभी मिट सकती है जब कला को हम विषय वस्तु समझें और विषय वस्तु को कला। इस तरह जीवन की घटनाएँ साहित्य में प्रतिबिम्बित हुए बिना भी साहित्य हो जाएगी और छंद, अलंकार, चरित्र-चित्रण, शैली सौंदर्य आदि विषय वस्तु के बिना भी हमें लोकोत्तर आनंद देने लगेंगी। लेकिन साहित्य की विषय वस्तु और उसकी कला दोनों एक ही चीज नहीं हैं। ये दोनों ही सम्बद्ध होकर साहित्य बनती हैं, दोनों की एकता साहित्य के लिए जरूरी है। लेकिन कला और विषयवस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य रचना के लिए निर्णायक महत्व की नहीं हैं। निर्णायक भूमिका हमेशा विषयवस्तु की होती है। जिसके पास उच्च कोटि के विचार नहीं हैं, भावावेश नहीं है, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट साहित्य नहीं रच सकता। जिसके पास ये चीजें हैं उसके

पास मूल वस्तु है, प्रयत्न करने पर वह उसे कलात्मक रूप दे देगा। वाल्मीकि ने जब क्रौंचवध से क्षुब्ध होकर 'शोकः श्लोकत्वमागतः' का अनुभव व्यक्त किया था, तब उन्होंने शोक और श्लोक-विषयवस्तु और कला का सापेक्ष महत्व महत्व भी बतला दिया था। इसलिए प्रगतिशील आलोचना ने भी व्यंजना की अपेक्षा विचारों को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा है और साहित्यकारों को मुख्यतः उन्हीं के अनुसार परखा है।”⁹⁴ साहित्य न केवल कला है और न केवल विषयवस्तु बल्कि दोनों का सम्बद्ध रूप है, और दोनों पक्ष अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। यह बता कर डॉ. शर्मा ने अपनी आलोचना का आदर्श स्पष्ट कर दिया है। साहित्यिक कृति की भाषा या कला पक्ष पर उनके विचार इसी आदर्श से अनुप्राणित हैं।

अधिकांश प्रगतिशील कवियों द्वारा जहाँ कविता में कलात्मकता की अवहेलना की जा रही थी वहीं तत्कालीन समालोचना में रचना की विषयवस्तु पर जोर न होकर उसकी भाषा या शिल्प के हवाई विश्लेषण पर जोर अधिक था। इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं- “आजकल कुछ आलोचक साहित्य की विषयवस्तु की आलोचना से बचने के लिए केवल भाषा की चर्चा करना यथेष्ट समझते हैं। वे यह तर्क भी देते हैं कि साहित्य में विषय-वस्तु को भाषा से अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए भाषा की चर्चा करना ही काफी है। इसके विरोध में कहा जा सकता है कि दोनों में इतना घनिष्ठ संबंध है तब विषय-वस्तु की चर्चा भी पर्याप्त हो सकती है; चर्चा के लिए भाषा ही क्यों चुनी गई? कारण यह है कि ऐसे लोगों के लिए भाषा और विषयवस्तु का प्रगाढ़ संबंध साहित्य की विषय-वस्तु, उसकी भाव-सम्पदा को नकारने के लिए है, वे यांत्रिक दृष्टि से भाषा का रूपात्मक विवेचन करते हैं। भाषा विचार-शून्य, भाव-शून्य विशुद्ध रूप कभी नहीं होती, इसलिए इनका रूप विवेचन, भाषा की दृष्टि से भी अधूरा और एकांगी होता

है। विचार और वाणी अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं, वे एक ही वस्तु नहीं हैं। दोनों की अभिन्नता पहचानते हुए आलोचना में दोनों का विश्लेषण करना चाहिए।”⁹⁵

रामविलास शर्मा यह मानते हैं कि कविता के शिल्प का विवेचन उसकी विषय-वस्तु के विवेचन से कठिन होता है पर विषयवस्तु को अलग रखकर उसका विवेचन नहीं किया जा सकता।⁹⁶ साहित्य में कला के प्रति असावधानी के निदर्शन को रामविलास शर्मा सही नहीं मानते, इसके प्रमाण उनकी व्यावहारिक आलोचना में सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। जब वे कहते हैं- “नरेंद्र शर्मा के बाद गिरिजाकुमार माथुर ने बड़ी समर्थ राजनीतिक कविताएँ लिखी थीं जो अपनी चित्रमयता में अद्वितीय थीं” तो समर्थ कविता का कलात्मक होना भी वे आवश्यक शर्त मानते हैं।⁹⁷

साहित्य में वस्तु को प्रमुख मानते हुए भी शर्माजी उसे एकमात्र तत्त्व नहीं मानते। वे लिखते हैं- “प्रयोगवाद की शुरूआत प्रगतिवाद पर आक्रमण से हुई थी। प्रगतिवादियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे प्रयोगवाद की आलोचना करें। किंतु साहित्य में विषयवस्तु ही सबकुछ नहीं है। सन् ४७ के बाद एक ओर सामाजिक दायित्व से बचकर साहित्य रचने की प्रवृत्ति—पन्त के रहस्यवाद, भारतभूषण आदि के प्रयोगवाद—में बलवती हुई, दूसरी ओर प्रगतिशील साहित्य में उग्र और संकीर्णतावादी रुझान प्रबल हुए। इन रुझानों का एक पक्ष यह था कि कला की अवहेलना करके केवल सामाजिक विषयवस्तु पर बल दिया जाए। सिद्धांत के अलावा व्यवहार में बहुत-सी ‘प्रगतिशील’ कविताएँ ऐसी लिखी जाती थीं जिनमें चित्कार-फुत्कार के अलावा न यथार्थवादी चित्रण होता था, न कलात्मक सौंदर्य।”⁹⁸ रामविलास शर्मा ने कविता की भाषा में कलात्मकता की अवहेलना अक्सर उन कवियों में लक्षित की जो कविता को नारेबाजी भर समझते थे- “‘तार सप्तक’ के पहले और बाद को प्रगतिशील का जो विकास हुआ, उसमें अनेक कमजोरियाँ थीं। उन दिनों

रूस की लाल फौज की वीरता से प्रायः सभी लेखक प्रभावित थे । अनेक प्रगतिशील कवियों ने लाल फौज पर कविताएँ लिखीं जिनमें अक्सर भौंडी तुकबंदी और निरर्थक शब्दजाल के दर्शन होते थे ।⁹⁹ इसके विपरीत वे नरेंद्र शर्मा की उन कविताओं की प्रशंसा करते हैं जिनमें व्यक्तिगत वेदना का पुट देते हुए बहुत जोरदार राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति हुई तथा जिनकी भाषा सरल है ।¹⁰⁰ यहाँ यह भी स्पष्ट है कि कविता में सरल भाषा का अर्थ शर्मा जी कोरी तुकबंदी या नारेबाजी नहीं मानते। कवियों के सुंदर शिल्प की प्रशंसा भी वे मुक्त कंठ से करते हैं। जैसे, अज्ञेय के शिल्प पर उन्होंने लिखा है- “अज्ञेय के शिल्प की विशेषता यह है कि वह एक ही उपमान का प्रयोग अनेक बार करते हैं और हर बार उसमें ताजगी रहती है।...अज्ञेय शब्दों के पारखी हैं, ढूँढ़कर लाते हैं, सहेज कर रखते हैं, उचित स्थान पर उसे सजाते हैं ।”¹⁰¹

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी आलोचना में एक दूसरे के समकालीन हैं । जिस आधुनिक कविता की भाषा में ‘स्वाभाविक या वास्तव’ के दबाव को द्विवेदी जी ने लक्षित किया और उसे काव्यभाषा के लिए स्वास्थ्यप्रद प्रवृत्ति नहीं माना, उसी प्रवृत्ति के विषय में डॉ. शर्मा कहते हैं- “आधुनिक हिंदी कविता में एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है जिसे हम नया यथार्थवादी रुझान कह सकते हैं । कविता की पुरानी शब्दावली, पुराने छंद, पुरानी प्रतीक-योजना नये कवियों को इसलिए पसंद नहीं आती कि वह यथार्थ जीवन के बोलचाल से, यथार्थ जीवन के चित्रों से मेल नहीं खाती । नये हिंदी कवि भाषा और छंद से लेकर प्रतीक योजना तक यथार्थ की भूमि पर बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं, यह उनके आधुनिक बोध का सकारात्मक पक्ष है ।”¹⁰² कविता की विषयवस्तु के जीवन से जुड़ाव से काव्यभाषा में बदलाव को वे सकारात्मक मानते हैं, अनावश्यक नहीं ।

रामविलास शर्मा मानते हैं कि कवि का जैसा भाव होगा, उसके अनुसार ही उसकी भाषा होगी। 'भाव अनूठो चाहिए, भाषा कैसो होय' के अनुसार द्विवेदीजी की तरह वे यह नहीं मानते कि पहले के हिंदी कवियों ने भाव के अनुरूप अपनी भाषा की बारीकी पर ध्यान नहीं दिया। तुलसीदास की भाषा के विषय में डॉ. शर्मा लिखते हैं- "...उनकी भाषा-संबंधी नीति महत्वपूर्ण ही नहीं, उनकी प्रगतिशीलता का मुख्य प्रमाण है। संस्कृत साहित्य से सुपरिचित होते हुए भी उन्होंने 'खल उपहास' की चिंता न करते हुए भाषा में कविता की। रामचरितमानस के लिए अवधी को अपनाया; उसकी भाषा को ग्रामीण प्रयोगों का दृढ़ आधार दिया। संस्कृत शब्दावली उनकी आधारशिला नहीं है; उसका काम झरोखे और महाराब बनाना है। आधारशिला अवधी के अतिसाधारण 'भदेस' शब्द हैं जिन्हें तुलसीदास ने बड़े स्नेह से सजाकर अपनी कविता में रखा है। यह तभी सम्भव हुआ, जब उन शब्दों का प्रयोग करने वालों के लिए उनके हृदय में स्थान था। उन्होंने अपना काव्य इन्हीं लोगों के लिए लिखा; इन्हीं की बोली में लिखा।"¹⁰³ स्पष्ट है कि काव्य की वस्तु का विवेचन हो या काव्य के रूप (भाषा या शिल्प) का, डॉ. शर्मा कवि की शिक्षा-दीक्षा से अधिक उसकी प्रतिबद्धता को काव्य का नियामक मानते हैं। अपनी पुस्तक 'एक कवि की नोटबुक' में नागार्जुन की काव्यभाषा का विश्लेषण करते हुए कवि राजेश जोशी भी कवि की राजनीतिक सामाजिक चेतना को उसके काव्यरूप का निर्धारक और काव्य-रूप से ही व्यक्त होने वाली सच्चाई मानते हैं।¹⁰⁴

रामविलास शर्मा ने बहुत लिखा है और राजनीति, इतिहास, भाषा विज्ञान, दर्शन आदि साहित्येतर अनुशासनों भी पर लिखा है। लेकिन स्वभावतः वे हैं साहित्य के सहृदय समालोचक ही। भाषा-शिल्प जैसे साहित्यिक मानदंडों के आधार पर इतिहास आदि से जुड़े प्रमाणों के लिए वे तर्क जुटाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदों को कर्मकांडी पुरोहितों

द्वारा रचित मानने को सही न मानते हुए वे लिखते हैं- “(ऋग्वेद में) काव्यशिल्प की दृष्टि से अत्यंत आश्चर्यजनक है ध्वनिबंधों का निर्माण । जैसे मंत्रबंध, सूत्रबंध, वैसे ही ध्वनिबंधा किन्हीं विशेष ध्वनियों का संयोजन, एक ही पंक्ति या परवर्ती पंक्ति में उनका आवर्तन—यह चमत्कार ऋग्वेद से लेकर तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और निराला तक चला आया है । ध्वनियों की आवृत्ति के अलावा वैदिक कवि भावों के अनुसार उनके उतार-चढ़ाव, उनकी विविधता का भी ध्यान रखते हैं । यह कौशल किसी भी युग में कर्मकांडी पुरोहितों को सुलभ नहीं हुआ ।”¹⁰⁵ ऋग्वेद मौखिक काव्य नहीं है, इसके लिए तर्क वे इसकी भाषा से ही जुटाते हैं और इसकी भाषा को मार्क्सवादी आलोचना के उपकरण से परखते हुए लिखते हैं- “भारत में वेदों को कंठस्थ रखने की परम्परा रही है। पुरोहित वर्ग ने उस पर एकाधिकार कायम किया, धार्मिक कृत्यों में मंत्रपाठ आय का साधन बना। इस परम्परा से प्रभावित होकर पश्चिमी संसार के विद्वानों ने कहा, वेद लिखे न गए थे, वे मौखिक साहित्य थे जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी कुछ पुरोहित परिवारों में सुरक्षित रहे। लेकिन इन विद्वानों ने यूरुप के मौखिक साहित्य का भी अध्ययन किया था। इस अध्ययन का एक निष्कर्ष यह था कि मौखिक साहित्य में सामान्यतः उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता। ऋग्वेद में उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग भरा पड़ा है। सर्वनाम के अलावा क्रियारूपों में भी उसकी व्यंजना होती है। वैदिक काल में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्भव हो चुका था । ऐसे समाज में कवियों द्वारा उत्तम पुरुष सर्वनाम (कभी एकवचन, कभी बहुवचन) का प्रयोग स्वाभाविक था।”¹⁰⁶ इसी प्रकरण में भाषा-शिल्प के प्रति प्रयोगधर्मिता और सतर्कता को रेखांकित करते हुए वेदों के रचयिताओं को कवि बताते हुए वे लिखते हैं- “(ऋग्वेद में) गाथा, वाणी, सूक्त आदि अनेक काव्य-रूपों का चलन था। और काव्य रचना में यथेष्ट शैलीभेद था। शैलीतात्त्विक विवेचना के लिए यहाँ अकूत सामग्री सुलभ है। ये कवि छंद नियोजन और वाक्य विन्यास की नयी-

नयी पद्धतियों का प्रयोग करते थे। कई जगह सूक्तों की संरचना अब्धुत है। सूक्त के भीतर अनेक मंत्र शब्दों की आवृत्ति से परस्पर संबद्ध कर दिये गये हैं। इस तरह शब्दों, पंक्तियों और पूरे मंत्रों की आवृत्ति द्वारा अनेक सूत्र परस्पर संबद्ध किये गये हैं। **संरचना के प्रति ऐसा सतर्क भाव सिद्ध करता है कि ऋग्वेद के रचनाकार मूलतः कवि हैं।**¹⁰⁷ इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि रामविलास शर्मा कवि या रचनाकार में रचना की संरचना के प्रति सतर्क भाव होने को अनिवार्य गुण मानते हैं। अन्य प्रकार के लेखन से साहित्य का भेदक लक्षण भी यही है कि इसमें कलापक्ष के प्रति विशेष सतर्कता दिखती है।

शर्मा जी का मानना है- “भाव, भाषा और छंद न पूरी तरह मुक्त होते हैं, न पराधीन। व्यक्ति और समाज, भावोद्धार और चिंतन, मौलिकता और अनुकरण, रचनात्मक प्रतिभा और सीखा हुआ कौशल—ये सब परस्पर संबद्ध हैं, इनमें कोई एक निरपेक्ष रूप से मुक्त नहीं है।”¹⁰⁸ भाव-भाषा-छंद को परस्पर संबद्ध मानने की संश्लिष्ट दृष्टि के कारण ही रामविलास शर्मा के आलोचना-कर्म में रचना के कला-पक्ष का विश्लेषण उसके भावपक्ष के विवेचन से विच्छिन्न रूप में नहीं होता। व्यावहारिक आलोचना में कलापक्ष पर अलग से विशद विवेचन शर्मा जी ने कवि निराला की समीक्षा करते हुए ही किया है। लेकिन वह विवेचन निराला की विचारधारा और भावबोध तथा उनके युगीन संदर्भ से कटा हुआ निरपेक्ष रूपवादी विश्लेषण नहीं है।

गद्य के कलात्मक विवेचन को आवश्यक मानते हुए तथा गद्य की कलात्मकता पर हिंदी में पुस्तकों के अभाव पर दुखी होते हुए भी रामविलास शर्मा स्वयं गद्य की कलात्मकता पर बहुत-विस्तार से विवेचन नहीं कर सके। गद्य की भाषा या गद्यकारों की भाषा पर उनके विचार उस बहुतायत से नहीं मिलते जितने काव्यभाषा पर। फिर भी जो छिटपुट विचार उपन्यासकार प्रेमचंद, आलोचक रामविलास शर्मा और कवि निराला और शमशेरबहादुर

सिंह के गद्य के विवेचन के दौरान प्राप्त होते हैं उससे गद्य की भाषा पर उनके 'स्टैंड' का परिचय मिल जाता है।

‘प्रेमचंद और उनका युग’ के पहले संस्करण की भूमिका में वे लिखते हैं कि ‘जनता कला का स्रोत है और उससे अलग रहकर महान साहित्य की रचना नहीं की जा सकती।’¹⁰⁹ जनता के बीच रहकर जो साहित्य रचेगा वह गलदश्रु भावुकता से बचेगा और ‘क्रांतिकारी लफ्फाजी’ से भी। प्रेमचंद के साहित्य की और प्रेमचंद की गद्य भाषा की बहुत बड़ी खूबी इस लफ्फाजी से बचकर सीधे-सादे ढंग से जनता की सेवा कर सकने वाले साहित्य की रचना मानते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों की विषय-वस्तु का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए वे प्रेमचंद की भाषा-शैली में व्यंग्य की गहराई को पकड़ते हैं तो साथ ही कवि न होते हुए भी उनमें कवियों की सर्जनात्मक प्रतिभा होने का उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं-

- “शहर के पढ़े-लिखे कायरों और गाँव के इन अपढ़ किसानों का चित्रण करते हुए प्रेमचंद की शैली बदलती जाती है। उनकी सहज सहानुभूति किसानों के साथ है, जो अपनी अशिक्षा और कुसंस्कारों के लिए खुद जिम्मेदार नहीं हैं। इसलिए उनकी शैली में परिहास का पुट है। शहर के पढ़े-लिखे दहेज-प्रेमी आँखें होते हुए भी अंधे हैं, इसलिए वहाँ प्रेमचंद की शैली व्यंग्यपूर्ण और मर्म पर चोट करने वाली है।”¹¹⁰
- प्रेमचंद कवि नहीं थे पर उनकी सर्जनशील प्रतिभा कवियों की प्रतिभा से भिन्न नहीं थी। चेतना में कुछ बिम्ब उभरे, किसी कहानी में व्यक्त हुए। फिर कहीं डूब गए, परिपक्व हुए, अस्फुट अनुभवों को समेटे हुए पुनः उभरे, उपन्यास में व्यक्त हुए।¹¹¹

गद्य में बेवजह की घुमावदार भाषा और अलंकारों का अतिशय प्रयोग शर्मा जी उचित नहीं मानते। निराला की गद्य-शैली का विवेचन करते हुए जब वे टिप्पणी करते हैं- “**जहाँ खयाल**

की गिरहबाजी नहीं है, उपमा या रूपक में बहुत सादगी है, वहाँ निराला का व्यंग्य बहुत प्रभावशाली होता है।”¹¹² गद्य की भाषा को बोलचाल की हिंदी की प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए, तभी गद्य सशक्त होगा, ऐसा रामविलास शर्मा के अपने लेखन से भी सिद्ध होता है और गद्यभाषा के प्रति उनके विचारों से भी। उनका मानना है कि ‘लिखित भाषा में शक्ति आती है जब वह बोलचाल की भाषा के अनुसार प्रवाहपूर्ण हो’ तथा साथ ही ‘धरती की शक्ति की पहचानने वाला’ हो अर्थात् हिंदी के बोली क्षेत्रों से शब्दावली ग्रहण कर सकता हो। निराला की गद्यभाषा के संबंध में वे लिखते हैं- “निराला का गद्य एक तरफ बहुत सीधे और जोरदार ढंग से बात कहता है, दूसरी तरफ उसमें कहीं-कहीं जरूरत से ज्यादा अर्थ-वक्रता है। यह अर्थ-वक्रता उनकी संस्कृतनिष्ठ भाषा में है, गुलाबी उर्दू में भी। ‘चतुरी चमार’ और ‘बिल्लेसुर बकरिहा’ का गद्य उनकी बोलचाल की अवधी से मिलता-जुलता है। खड़ी बोली लिखते हुए भी निराला उसे अवधी के स्तर पर ले आते हैं। सपना फलियायगा, निगाह ताड़ते हुए, कंडे की आग परचाकर...इस तरह के प्रयोग बिल्लेसुर बकरिहा के गद्य में रचे हुए हैं। उनसे न केवल निराला गाँव का वातावरण तैयार करते हैं, वरन् हिंदी भाषा की शक्ति के अटूट स्रोत—जनपदीय बोलियों की ओर भी संकेत करते हैं। इस स्रोत से बहुत बड़ी शक्ति भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने ली थी, प्रेमचंद के गद्य की शक्ति का वह भी एक स्रोत है। आधुनिक हिंदी गद्य उस स्रोत से कटा हुआ है, धरती की शक्ति को नहीं पहचानता।”¹¹³

रामविलास शर्मा के भाषा-संबंधी विचार उनकी विचारधारात्मक प्रतिबद्धता से अनुप्राणित होते हुए भी जड़ नहीं हैं। अपने आलोचना-कर्म में साहित्य और भाषा के संबंध को विश्लेषित करते हुए वे साहित्य में भाषा के कलात्मक प्रकार्य की अवहेलना नहीं करते

हैं। लेकिन कलात्मकता को अंततः विचार के प्रभाव को गहरा करने का साधन मानते हुए साहित्य की भाषा का जन से, धरती से जुड़ा होना आवश्यक मानते हैं।

3.4 नामवर सिंह के भाषा-संबंधी विचार

नामवर सिंह का आलोचनात्मक लेखन जिस दौर में शुरू होता है वह हिंदी में प्रयोगवाद और नयी कविता का दौर है। प्रयोगवादी कवि जोर-शोर से कविता के शिल्प, भाषा, प्रेषणीयता आदि सवालों पर न केवल कविता में लिख रहे थे बल्कि 'वक्तव्य' भी दे रहे थे। अपने लेखन के आरम्भ से ही नामवर सिंह को ऐसा साहित्यिक वातावरण मिला जिसमें भाषा और शिल्प की बारीकियों का सवाल प्रमुख था। अतः आलोचक नामवर सिंह के चिंतन व लेखन में प्रारम्भ से ही भाषा का मुद्दा महत्वपूर्ण रहा है। छायावादी कविता के अलंकृत और स्फीत भाषिक प्रयोग तथा प्रगतिवादी कविता की बेपरवाह या कलाहीन भाषा पर आक्षेप किए जा रहे थे और उनके बरअक्स एक बौद्धिक और कलात्मक काव्यभाषा की खोज का दावा किया जा रहा था। अपनी पुस्तक छायावाद (1955) में नामवर जी ने काव्यभाषा को युगीन आवश्यकताओं और भावों के आवेश से चालित बताया है न कि किसी बने-बनाए सिद्धांत से चालित। भाषा और शिल्प की बारीकियों को अध्ययन का मुद्दा बनाते हुए भी नामवर सिंह रूपवादी रुझानों से सावधान रहे और पाठक को सावधान करते रहे। अपने लेखन की शुरूआत से ही उनका स्पष्ट मानना था कि "साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा। इसलिए साहित्य में कलात्मक सौंदर्य लाने के लिए उस माध्यम पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। लेकिन उस माध्यम को ही साध्य मानकर उसी की कारीगरी में सिमट जाना, कोरा रीतिवाद अथवा रूपवाद है।"¹¹⁴ और डॉ. रामविलास शर्मा की ही तरह वे भी मानते हैं कि **रूपविधान की अपेक्षा विषयवस्तु का महत्व अधिक है।**¹¹⁵

नामवर जी का भाषा चिंतन सामाजिक और ऐतिहासिक है। अर्थात् जब वे रचना की भाषा पर बात करते हैं तब भाषा विधा के नियमों से कितनी चालित है इससे अधिक ध्यान इस बात पर देते हैं कि युग की किन परिस्थितियों या आवश्यकताओं के तहत भाषा ने वह रूप लिया। छायावादी कविता की भाषा पर बात करते हुए नामवर सिंह द्विवेदी युगीन काव्य भाषा से इसकी तुलना करते हैं और दोनों युगों की काव्यभाषा को उनके युग की चेतना के प्रतिफलन के तौर पर देखते हैं।

‘छायावाद’ के ‘पद विन्यास’ पर विचार करते हुए वे पहले मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’ तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी की कविताओं से उदाहरण देते हुए कहते हैं कि संस्कृत के बड़े-बड़े तत्सम शब्दों के प्रयोग में द्विवेदीयुगीन ये कवि छायावादी कवियों से आगे ही थे, लेकिन फिर भी ये कवि अपनी कविता में मोहकता न ला सके, जो छायावाद के कवियों ने ला दी। वे लिखते हैं- “बड़े-बड़े और सौंदर्यसूचक शब्दों के होते हुए भी इसे (द्विवेदीयुगीन कविता को) पढ़कर आँखों के सामने कविता का न तो कोई सुरम्य रूप ही सामने आता है, न मन रससिक्त ही होता है और न तो अलौकिक आनन्द ही मिलता है।”¹¹⁶ इससे छायावादी कविता का अंतर सोदाहरण दिखाते हुए लिखते हैं- “पलक, सुवर्ण, सुरभि, स्पंदन जैसे तीन-तीन वर्णों के छोटे-छोटे शब्दों से पंक्त ने जो मोहक और सजीव वातावरण पैदा कर दिया है वह भारी-भरकम शब्दों के द्वारा भी द्विवेदी युगीन कवि न कर सके।”¹¹⁷

द्विवेदीयुगीन काव्यभाषा भाव-चेतना की दृष्टि से कंकाल-मात्र है और भारी-भरकम शब्दों में भी कोरा तथ्य-कथन करती है तो इसका कारण उस युग की चेतना में ही है। इस विषय में नामवर जी कहते हैं- “उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण हिंदी आदि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाढ़ तो आ गई

लेकिन पुनर्जागरण के प्रथम चरण ने नये व्यक्ति के मन को उतना भाव-प्रवण और कल्पना-कलित नहीं बनाया कि वे शब्द नयी चेतना से संपृक्त और नयी अर्थवत्ता से सजीव हो उठें। इसीलिए सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रथम चरण के सभी लेखकों और कवियों की भाषा में संस्कृत की तत्सम पदावली के बावजूद केवल निर्जीव तथ्य-कथन मिलता है।”¹¹⁸ छायावादी काव्यभाषा जिस ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम थी उसकी ओर संकेत करते हुए नामवर जी लिखते हैं- “सांस्कृतिक पुनर्जागरण का दूसरा चरण राष्ट्रीय आंदोलन की नयी लहर लेकर आया। समूचे भारतीय समाज में अपूर्व आशा और आकांक्षा का संचार हुआ। कल्पना-जीवी युवकों का अभ्युदय हुआ। व्यक्तित्व में विराटता आयी। व्यक्ति-मन रुढ़ियों से मुक्त हो ऊँची उड़ान भरने लगा! समाजशास्त्रीय भाषा में यह व्यक्तिवाद का उदय था। इस नये व्यक्ति की अभिव्यक्ति भी नयी हो उठी। वह कुछ ऐसी भाषा बोलने लगा जो व्याकरण की दृष्टि से तो पहले की ही तरह थी, फिर भी पुराने वैयाकरणों और साहित्याचार्यों की पकड़ से बाहर हो गयी। यह अस्पष्टता उन्हें छाया प्रतीत हुई, कभी-कभी उनके लिए यह रहस्य भी बन जाती है। लेकिन कवि के लिए भावना रंग गई, भाषा भी रंग उठी।”¹¹⁹ नामवर जी इंगित करते हैं कि यह स्थिति केवल हिंदी में नहीं बल्कि बंगला, गुजराती, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में उसी दौर में आई। इससे वे प्रमाणित करते हैं कि काव्यभाषा का संबंध सबसे पहले युग की स्थितियों से होता है। पर रचनाकार की अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता को भी उसकी भाषा से अलग करके वे नहीं देखते।

‘छायावाद’ पुस्तक के पद-विन्यास शीर्षक अध्याय में वे लिखते हैं कि जिन शब्दों के सहारे एक कवि एकदम सीधी-सादी सपाट कविता लिखता है, उन्हीं को नवीन क्रम में सजाकर भावुक कवि मार्मिक सौंदर्य पैदा कर देते हैं। उनके विवेचन में ‘भावुक’ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। भाषा के नयी अर्थवत्ता से भर उठने में नामवर जी ‘भाव’ की प्रबलता

को उत्प्रेरक मानते हैं। काव्य-भाषा संबंधी उनके विचारों में 'भाव', भावुक' जैसे शब्द बार-बार आते हैं। साफ शब्दों में वे कहते हैं- "शब्द भावों के आवेश से चालित होकर नया अर्थ ध्वनित करते हैं।"¹²⁰ कविता को शब्द में रेड्यूस करने की प्रवृत्ति या काव्यभाषा को केवल शब्दों की कारीगरी के आधार पर जाँचने के बदले वे कहते हैं- "भाषा शब्दों की संख्या से धनी नहीं होती, धनी होती है उनकी भाव-व्यंजकता से।"¹²¹ इस प्रकार 'भाव व्यंजकता' नामवर जी के यहाँ कविता और काव्यभाषा की उत्कृष्टता की सर्वप्रमुख कसौटी है।

भाव की इस कसौटी पर वे द्विवेदी युगीन और छायावादी कविता को ही नहीं, अपने द्वारा आलोच्य हर युग की और हर कवि की कविता को कसते हैं। प्रगतिशील कविता के विषय में उनका कहना है- "प्रगतिशील कविता के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि उसमें कलापक्ष की अवहेलना की जाती है; यदि इसका अर्थ यह है कि प्रगतिशील कवि प्रयोगवादियों की तरह कलापक्ष पर बहुत जोर नहीं देते तो यह ठीक है। बहुत सजाव-सिंगार और पेचीदगी प्रगतिशील कविता में नहीं मिलती। अपनी बात को सुलझा कर उसे कितने सहज ढंग से कह दिया जाए—यही प्रगतिशील कवि का प्रयत्न रहता है। उसके भावों की तरह भाषा भी गाँठ-रहित होती है। प्रगतिशील कवि अपना हर शब्द और वाक्य चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं करता। यदि दो-चार शब्द बेकार आ भी जाएँ तो वह उन्हें निकाल देने के लिए बहुत चिंतित नहीं होता। उसका विश्वास है कि जबरदस्त भाव भाषा की ढीली-पोली के बावजूद अपने को प्रकाशित करते रहते हैं। इसीलिए प्रगतिशील मुक्तछंदों के बन्द प्रयोगवादी कविता की अपेक्षा काफी शिथिल मिलेंगे। लेकिन यही सहजता उसकी शोभा है।"¹²² नामवर जी की 'भाव' की कसौटी काफी लचीली है। इस अर्थ में लचीली कि हर काव्य-प्रवृत्ति को वे उसके परिवेश और मान्यताओं के आधार पर

परखते हैं न कि किसी पूर्वग्रह के आधार पर। तभी 'भाव' की कसौटी पर छायावादी शब्द-स्फीति भी जस्टिफाई होती है, प्रगतिशील कविता की 'ढीली-पोली' भाषा भी और प्रयोगवादी कवि अज्ञेय की 'शब्दों की मितव्ययिता' भी।

भाव के आधार पर ही एक युग की काव्य-भाषा में समान विशेषताएँ लक्षित होती हैं और भाव के आधार पर ही एक युग के अलग-अलग कवियों की भाषा में अलग-अलग विशेषताएँ भी नामवर जी बताते हैं। 'प्रसाद की काव्य-भाषा' शीर्षक लेख में वे लिखते हैं- "प्रसाद की भाषा बीसवीं सदी के स्वच्छंदतावादी लहर का अंग है। पर साथ ही प्रसाद की भाषा-शैली की अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे निराला, पंत और महादेवी की भाषा से अलग करती है। भाव वैशिष्ट्य से भाषा वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। प्रसाद जी के पदचयन के पीछे विशेष मनोवृत्ति झलकती है।"¹²³ हर कवि का अपना एक शब्द-भंडार होता है जो उसके काव्य-संसार की विशिष्ट पूँजी होती है। यह पूँजी कैसी होगी इसका निर्धारण कवि की मनोवृत्ति से होता है और कवि की मनोवृत्ति का निर्माण जीवन और समाज से उसके द्वंद्वत्मक रिश्ते से। कवि प्रसाद की काव्य-भाषा का जिस बारीकी से नामवर जी ने अध्ययन किया है वह एक बानगी है कि किसी भी कवि की काव्य-भाषा के अध्ययन द्वारा उसकी कविता की सभी विशिष्टताओं को कैसे विश्लेषित और मूल्यांकित किया जा सकता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

- “ 'मधु' या 'मधुर' प्रसाद का तकियाकलाम-सा है।...यह आकस्मिक नहीं है और न एक शब्द को पकड़कर रामायणी कथा-वाचकों का-सा चमत्कार-प्रदर्शन है। 'मधु' प्रसाद के आनंदवादी जीवन-दर्शन का अविच्छिन्न अंग है। जीवन की कटुता और छलना से बिंधे हुए भावुक हृदय के लिए 'मधु' प्रेम स्वाभाविक है। प्रताड़ना और छलना का जैसा यथार्थ चित्र और उससे उत्पन्न होनेवाली व्यथा प्रसाद के

साहित्य में मिलती है, वैसी किसी छायावादी कवि में नहीं। निराला में खुले संघर्षों और रुढ़ियों के प्रहारों का दर्द है, प्रसाद की तरह आत्मीयों की प्रताड़णा का नहीं। यही कटुता मधुमय कल्पना और 'मधुर' पदावली की जननी है।¹²⁴

- “प्रसाद की पदावली की दूसरी विशेषता है ‘इंद्रजाल’। प्रसाद प्रायः इंद्रजाल, ‘जादू’, ‘टोना’, ‘कुहक’ आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। कविता में ही नहीं, कहानियों में भी इन शब्दों का वे निधडक व्यवहार करते हैं। सृजनशील कल्पना के अनेक व्यापारों में से ऐन्द्रजालिक रचना भी एक है। यह कौशल छायावादी कवियों में प्रसाद के अतिरिक्त पन्तजी में सबसे अधिक है।...प्रसाद का यह ‘इन्द्रजाल’ पन्त से इस मामले में भिन्न है कि पन्त का इंद्रजाल जहाँ अधिक वायवी, सूक्ष्म, धुँधला और अस्पष्ट है, वहाँ प्रसाद का इंद्रजाल अधिक मांसल, पुष्ट, इन्द्रिय-ग्राह्य और ठोस है। कारण साफ है। प्रसाद की अनुभूतियाँ पन्त के विपरीत प्रौढ़-मन की हैं और उनका सम्बन्ध ऐसे पुरुष से है जिसने खुलकर यौवन के उपादानों का प्रयोग किया है। इसलिए प्रसाद के ऐन्द्रजालिक चित्रों में स्पष्टता, मांसलता और ठोसपन है। फलतः इसकी सूचक पदावली भी आई है।¹²⁵

‘प्रसाद की काव्य-भाषा’ पर यह लेख नामवर जी ने 1953 में लिखा। 1968 में ‘कविता के नए प्रतिमान’ में वे लिखते हैं- “कथ्य को कथन के रूप में निःशेष कर देने में, निःसंदेह आलोचना के अंतर्गत रूपवादी रुझान का खतरा है, क्योंकि कुछ आलोचक कथन की भाषागत विशेषताओं के विश्लेषण को ही समूची काव्य कृति का विश्लेषण समझने की भूल कर सकते हैं। किंतु जो जागरूक समीक्षक शब्द के इर्द-गिर्द बनने वाले समस्त अर्थ-वृत्तों तक फैलते जाने का विश्वासी है वह संदर्भ के अनुसार शब्द में निहित सभी अर्थापत्तियों को पकड़कर काव्यभाषा के आधार पर ही काव्य का पूर्णमूल्यांकन कर सकता है, जिसमें उसका

नैतिक मूल्यांकन भी निहित है।”¹²⁶ नामवर जी का आलोचनात्मक लेखन उनकी इस बात का प्रमाण भी है। भाषा के विश्लेषण के आधार प्रसाद के अलावा मैथिलीशरण गुप्त, मुक्तिबोध, ‘नयी कविता’ के कवियों का ‘नैतिक मूल्यांकन’ करने में वे सक्षम हुए हैं।

हिंदी समालोचकों में नामवर जी ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने ऐतिहासिक-सामाजिक पृष्ठभूमि पर भाषा तथा काव्य-प्रवृत्तियों के द्वंद्वीय संबंध के विश्लेषण द्वारा हिंदी काव्यभाषा के क्रमिक विकास को रेखांकित किया है। हालांकि उनका यह महत्वपूर्ण काम उनके अनेक लेखों में बिखरे रूप में मिलता है। उनका मानना है कि पुरानी भाषा को तोड़े बिना कविता में नया भावबोध प्रकट नहीं होता, क्योंकि **नई संवेदना-नई दृष्टि का गहरा संबंध नई भाषा से होता है**। छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत जिन्होंने खड़ी बोली को कोमलकांत-भावप्रवण काव्यभाषा का रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वे स्वयं अपनी बनाई भाषा में एक सीमा के बाद कैद हो कर रह गए क्योंकि उन्होंने भाषा में तोड़-फोड़ नहीं की। इस कारण छायावाद के बाद भी प्रचुर काव्यरचना करते रहने के बावजूद वे बाद के युग को वाणी नहीं दे सके। पंत के विपरीत निराला अपनी संवेदना के अनुरूप अपनी भाषा को लगातार तोड़ते-गढ़ते रहे, इस कारण वे आगे के कवियों के भी प्रेरक रहे। 1938 से प्रकाशित होने वाली और 11 ही अंकों तक निकल सकने वाली ‘रूपाभ’ पत्रिका में पंत की मध्यवर्ग, श्रमजीवी वर्ग, कृषक आदि पर कविताएँ छपीं और वे प्रगतिशील माने जाने लगे थे। पंत की उस दौर की कविता से निराला की उसी दौर की कविताओं की तुलना करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं- “ ‘रूपाभ’ में पंत जी के दो गीत छपे थे, निराला से मिलाकर देखना चाहिए। उसी काल में निराला छायावाद की रोमांटिक, जिसको ‘हाईसाउंडिंग’ कहते हैं, उदात्त और ललित-कलित कोमलकांत पदावली को तोड़कर एक नयी भाषा गढ़ने की कोशिश कर रहे थे। पंत जी की भाषा वही पुरानी थी। छायावादी

भाषा में मजदूरों पर कविताएँ लिखी जा रही थीं। जब तक वह भाषा नहीं टूटती, तब तक आपमें वह नया भाव-बोध प्रकट नहीं होगा।”¹²⁷

नई संवेदना-नई दृष्टि को पोषित और अभिव्यक्त करने वाली नई भाषा परम्परागत और प्रचलित काव्यभाषा की तुलना में अनगढ़ और खुरदरी हो सकती है। नामवर जी इसे कवि की कमजोरी नहीं मानते, न निराला के संदर्भ में, न मुक्तिबोध के। ‘कविता के नए प्रतिमान’ में मुक्तिबोध की लम्बी कविता ‘अंधेरे में’ की भाषा पर अपने विचार रखते हुए नामवर सिंह ने लिखा है- “स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के लिए भाषागत अभिव्यक्ति जीवन की अभिव्यक्ति से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का अर्थ है मठों और गढ़ों को तोड़ना, साथ ही ‘अरुण कमल’ के लिए दुर्गम पहाड़ों के पार जाने का जोखिम उठाना। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने काव्यभाषा को नया तेवर दिया है, जो नई कविता की सामान्य काव्यभाषा की तुलना में काफी अनगढ़ और बेडौल लगती है। किंतु इससे यही सिद्ध होता है कि मुक्तिबोध की भाषा काव्यात्मक नहीं है; इससे उसकी व्यंजकता असिद्ध नहीं होती। अंग्रेजी में कुछ आलोचकों ने कविता की भाषा के लिए ‘पोएटिक’ और ‘पोएटिकल’ दो शब्दों का प्रयोग किया है। अनुकरणशील कवि प्रायः उस ‘पोएटिकल’ भाषा का प्रयोग करते हैं जो परम्परा से काव्यात्मक भाषा के रूप में प्राप्त होती है। इसके विपरीत सृजनशील कवि परम्परागत काव्यभाषा के दायरे को तोड़कर अपने नये कथ्य के अनुरूप ‘काव्यभाषा’ का निर्माण करता है जो आरम्भ में खुरदरी लगते हुए भी अपनी अर्थवत्ता में जानदार होती है। इस दृष्टि से निराला के समान ही मुक्तिबोध की भाषा भी तेजस्क्रिय है। जिस प्रकार ‘राम की शक्तिपूजा’ समास बहुला संस्कृतनिष्ठ हिंदी के साथ ही बोलचाल की भाषा के टुकड़े पिरोए हुए है उसी तरह ‘अंधेरे में’ भी भाषा के दोनों रूप मिलते हैं। कविता में भाषा कठिन है या सरल, संस्कृतनिष्ठ है या

बोलचाल की आदि प्रश्न अप्रासंगिक हैं। 'अंधेरे में' जैसी नाटकीय कविता में देखना यह है कि भाषा का नाटकीय उपयोग किस रूप में किया गया है और किस हद तक। और कहना न होगा कि 'अंधेरे में' में संदर्भ भेद से भाषा की नाटकीय भंगिमाएँ विविध हैं। कहीं सघन बिम्बों की माला है तो कहीं ठेठ सपाटबयानी।...मुक्तिबोध की भाषा पर अनगढ़ता का आरोप लगाते समय इस बारे में सोचकर देखना चाहिए कि जिस तिलस्मी दुनिया की सृष्टि वे कविता में कर ले जाते हैं, वह क्या असमर्थ काव्यभाषा में कभी संभव है? वस्तुतः 'अंधेरे में' का खौफ़नाक काव्य-संसार समर्थ भाषा की ही सृष्टि है।¹²⁸ स्पष्ट है कि नामवर जी काव्यभाषा के लिए किसी तरह के संरचनागत या व्याकरणिक सामान्य नियम मानने या बनाने के हिमायती नहीं हैं। कविता जो भाव सम्प्रेषित करना चाहती है, उस भाव को पूरी सघनता के साथ सम्प्रेषित करने में सक्षम भाषा ही समर्थ काव्यभाषा है, चाहे वह सपाटबयानी में हो या सघन बिम्बों की माला के रूप में।

आलोचक नामवर सिंह के आलोचना-कर्म में भाषा और शिल्प का सवाल अलग से या अंत में जोड़ा हुआ नहीं आता कि काव्य-वस्तु के विश्लेषण द्वारा कवि का मूल्यांकन पूरा हो चुकने के बाद शिल्प पर कुछ कह दिया गया हो। भाषा और शिल्प का सवाल अंतर्वस्तु के विश्लेषण के बीच ही आता है और इस तरह आता है कि उसके आये बिना विश्लेषण हो ही न सके। काव्यभाषा के आधार पर नामवर सिंह कवि की सामाजिक-नैतिक निर्भीकता को भी परखते हैं। 1963 के अपने लेख 'नंगी और बेलौस आवाज़' में कवि की नैतिकता को उसकी भाषा से जोड़ते हुए कहते हैं- "...काव्यात्मक प्रश्न अंततः नैतिक प्रश्न हो जाता है। वस्तुस्थिति पर कवि की पकड़ ढीली होती है, तो अभिव्यक्ति में शब्द अस्पष्ट से आते हैं। कहीं धराऊँ शब्द तो कहीं मुँहभराऊँ शब्द; कविता कहीं नारा हो जाती है तो कहीं वक्तव्य; कहीं उपदेश तो कहीं गाली; भाव-व्यंजना के स्थान

पर भावुकता प्रकट होती है और आवेश में वाक्य टूटने लगते हैं, लय लड़खड़ाने लगती है और कुल मिलाकर उपलब्धि कवि के लिए रिक्ति और पाठक के लिए विरक्ति।”¹²⁹ उस समय के नये कवियों धूमिल और कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की ‘सीधी-सादी’ भाषा को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- “...सत्य का ढोल न पीटते हुए भी कवियों की नई पीढ़ी आज सत्य के कथन में कहीं अधिक समर्थ है। जितनी सीधी-सादी यह भाषा है, उतनी सी सीधी-सादी दृष्टि। इसके मूल में निश्चय ही एक निर्भीक नैतिकता अथवा नैतिक साहस है।”¹³⁰

भाषा और अनुभव, भाषा और चिंतन, भाषा और ज्ञान की संरचना के बीच के संबंध को परिभाषित करने वाले नये अध्ययनों को ध्यान में रखते हुए वे कहते हैं- “...यदि भाषा कवि के अनुभव और ज्ञान का साधन है तो कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को भी मापा जा सकता है। अब इस सफाई के लिए कोई गुंजाइश न रही कि कवि ने अनुभव तो बहुत किया किंतु भाषा की असमर्थता के कारण अपनी बात पूरी तरह कह नहीं पाया। तुरंत यह सवाल उठेगा कि उसने बहुत अनुभव किया था, इसका प्रमाण क्या है? कथन के अतिरिक्त तथाकथित मूल अनुभव को जानने का साधन क्या है?”¹³¹ नामवर जी इस मत के समर्थन में हैं कि भाषा की समृद्धि अनुभव की शक्ति से जुड़ी है और अनुभव तभी पुष्ट हो सकते हैं जब व्यक्ति की भाषा समृद्ध हो। पर भाषा और अनुभव के इस संबंध को केवल सतही स्तर पर या यांत्रिक तरीके से समझा जाए तो विश्लेषण-मूल्यांकन की प्रक्रिया गलत दिशा में भी जा सकती है। हवाई बातों को, केवल शब्दों के खेल को अनुभव की गहराई समझने का भ्रम भी हो सकता है। इसलिए नामवर जी आलोचक से बहुत अधिक सावधानी और सृजनशीलता की माँग करते हैं।

कृति की भाषा के विश्लेषण में नामवर जी अर्थ-वृत्तों या अर्थच्छवियों तक पहुँचने की आलोचक की क्षमता को उसकी सृजनशीलता कहते हैं। आलोचक में यह सृजनशीलता होगी तभी कृति की भाषा के मूल्यांकन में तथा कृति के समग्र मूल्यांकन में वह सफल हो सकेगा। वे कहते हैं- “भाषा, कवि से जिस सृजनशीलता की अपेक्षा रखती है, वही सृजनशीलता आलोचक के लिए भी आवश्यक है। आलोचक जब आलोच्य कृति के सम्पूर्ण कथ्य को कथन-मात्र के रूप में स्वीकार करके आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होता है तो उस पर कथ्य-कथन के संबंध में प्रवेश करने की कठिन जिम्मेदारी आ जाती है। तादात्म्य के रूप में प्रस्तुत कथ्य-कथन के बीच वह एक तरह से सेंध लगाता है और अंतर्निहित तनाव की तलाश करता है। आलोचक की यह तलाश ही उसकी सृजनशीलता है।”¹³²

कथ्य-कथन के संबंध में प्रवेश करने और अंतर्निहित तनाव की तलाश करने की सृजनशीलता नामवर जी में है तभी वे भाषा के अर्थ-वृत्तों का निरीक्षण करते हुए मैथिलीशरण गुप्त की काव्यभाषा के इकहरेपन को पकड़ते हैं और उनकी भाषा के माध्यम से उनके पूरे मानसिक गठन और उसका प्रतिफलन उनकी कविता का समग्र मूल्यांकन करते हैं। 1986 में यह मूल्यांकन वे उस दौर में गद्यवत काव्यभाषा के हिमायती कवि-आलोचकों से संवाद करने के लिए करते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की काव्यभाषा गद्यवत है। इस गद्यवत काव्य-भाषा के सरल-सहज सौंदर्य की महिमा स्वीकारते हुए भी नामवर जी कहते हैं- “पर काव्य में इस भाषा की एक सीमा है। वह सीमा नीरसता नहीं है जैसा कि आमतौर से कहा जाता है। भाषा रागात्मक न सही, तथ्यात्मक तो है। तथ्यात्मक होना दोष नहीं। दोष है कि वह इकहरी है। इतनी संश्लिष्ट नहीं कि किसी वस्तु, दृश्य, घटना या जीवनानुभव को उसकी समग्र संकुलता में व्यक्त कर सके, इंद्रिय-बोध से लेकर भाव-बोध और विचार-बोध के स्तरों तक जीवन-व्यापार का अनुभव करा सके और उसका बिम्ब भी प्रस्तुत कर सके।

गुप्त जी की इकहरी भाषा में यह क्षमता न थी। भाषा का इकहरापन वस्तुतः उनके भाव-बोध और चिंतन के इकहरेपन का सूचक है।¹³³ भाव-बोध और चिंतन के इकहरेपन से उत्पन्न 'सरल भाषा' के पक्षपातियों के समक्ष नामवर सिंह यह स्पष्ट करते हैं कि लगातार जटिल हो रहे जीवन को ऐसी भाषा में बयान करना अपेक्षित नहीं है। कविता मनुष्य के भावों और रागात्मक संबंधों की अभिव्यक्ति है तो उसकी भाषा को भी इतनी संश्लिष्ट होनी चाहिए या वह इतनी संश्लिष्ट होगी कि कई सारे घटकों के द्वंद्व से बनने वाले अनुभवों को उनकी पूरी संकुलता या सघनता में व्यक्त कर सके।

नामवर सिंह के भाषा चिंतन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा गद्य और बोलचाल की भाषा के बीच के संबंध और अंतर का विश्लेषण भी रहा है। गद्य को बोलचाल की भाषा समझने वाली आम लेकिन गलत समझ को वे अनेक स्थानों पर सुधारने की कोशिश करते हैं। काव्यभाषा के गद्यवत होने के खतरे से आगाह करने की खातिर भी और गद्य को उसके अनुशासन से च्युत होने से बचाने की खातिर वे यह प्रयास करते हैं।

कविता के अलावा साहित्यिक विधाओं में नामवर सिंह ने कहानी की आलोचना विस्तार से की है। उन्होंने रूप (कलात्मकता) और अंतर्वस्तु के स्तर पर कहानी की भाषा से संबंधित महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। हिंदी की सभी गद्य विधाएँ आधुनिक काल में प्रचलित हुईं विधाएँ हैं, अतः इनका इतिहास बहुत पुराना नहीं है और न इनका रूप पुराना है। फिर भी नई कहानी के समय तक आते-आते हिंदी कहानियों की भाषा में जिस तरह की मितव्ययिता और अर्थगाम्भीर्य के दर्शन हुए, उसको लक्षित करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है- “भाषा इधर की कहानियों की काफी बदली है, यह भी कह सकते हैं कि मँजी है। यहाँ तक की हिंदी गद्य का अत्यंत निखरा हुआ रूप आज की कहानी में ही सबसे अधिक मिलता है। कहानी में एक भी फालतू शब्द न आये, इसके प्रति आज का लेखक बहुत

सतर्क है और यह शुभ लक्षण है।¹³⁴ साहित्य कथ्य के साथ भाषा का सबसे कलात्मक रूप भी है, शब्द इसकी निर्माण-सामग्री हैं और शब्दों का सजग, मँजा हुआ प्रयोग कलाकार की कला के प्रति कुशलता तथा गम्भीरता का सूचक है। यही कारण है कि कहानी की भाषा के प्रति कहानीकार की सजगता को नामवर सिंह ने 'शुभ लक्षण' माना है।

हालांकि कहानी की भाषा में मँजाव या मितव्ययिता को कहानी के लिए ठीक मानते हुए भी नामवर सिंह कहानी की भाषा पर अनावश्यक काव्यात्मकता के लदाव को हानिकारक बताते हैं। कहानी में बढ़ती सांकेतिकता के स्वस्थ पहलुओं को पहचानते हुए जहाँ वे लिखते हैं- “...नयी कहानी में अभीष्ट भाव या विचार की अभिव्यंजना अनेक स्तरों पर होती है और उसे समग्र रूप से प्राप्त करने के लिए पाठक को उतने स्तरों पर संवरण कर सकने की क्षमता प्राप्त करनी होगी। नयी कहानी के प्रसंग में यदि 'सम्प्रेषणीयता' का कोई अर्थ हो सकता है, तो रस-बोध के विविध स्तरों की प्रेषणीयता।¹³⁵ कहानी में सांकेतिकता का यह पक्ष जहाँ कहानी विधा को समृद्ध करता है वहीं इससे जुड़ा एक दूसरा पहलू भी है जो 'खतरनाक' और 'फिसलन' भरा जो सकता है। संकेत इतने बारीक हो सकते हैं कि पाठक ताकता रह जाए और इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हो सकता है कि कहानी सर्वथा विचारशून्य हो जाए।

कहानी की भाषा में प्रतीक-संकेत की इस पद्धति के दूसरे पहलू के विषय में वे लिखते हैं- “प्रतीक-संकेत की पद्धति से भाषा में जहाँ एक ओर सूक्ष्म अर्थवत्ता आयी है, वहाँ दूसरी ओर उस पर अनावश्यक काव्यात्मकता का लदाव भी हुआ है। कथा साहित्य ने भाषा की एक परम्परा कायम की है। गद्य ने एक विशेष उत्तरदायित्व के साथ जन्म लिया है, जो कविता की भाषा के उत्तरदायित्व से कहीं बड़ा है।¹³⁶ सार्त्र के हवाले से वे कहते हैं कि गद्य एक प्रकार का निरंतर नामकरण है और नाम की सार्थकता इस बात में है कि बोध्य

वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अपने अस्तित्व का लोप कर दे। इस तरह अंतर्वस्तु के अधिकतम सम्प्रेषण की क्षमता को, 'साफगोई' को वे गद्य की भाषा का और गद्य होने के नाते कहानी की भाषा का सबसे आवश्यक गुण मानते हैं। बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ कहानीकारों के भाषा-प्रयोग के विषय में वे लिखते हैं- "सार्त्र से सर्वथा सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेकिन जिस प्रकार कहानियों में शिवप्रसाद सिंह जैसे लेखक कदम-कदम पर उपमाओं का कोष लुटाते चल रहे हैं उससे एक दिन कहानी के ही लुट जाने का खतरा है। दूसरी ओर राजेंद्र यादव हैं, जो सम्भवतः कहानी के लिए निबंध की भाषा को ही आदर्श मानते हैं, यह दूसरा छोर है। शायद इसीलिए क्षति-पूर्ति के लिए उन्होंने 'कुलटा' में उर्दू के शेरों की सहायता ली है। 'मन्दी' के ज़माने में मोहन राकेश भी कहानी के अंदर 'निरीक्षणात्मक', 'अध्ययनात्मक' तथा 'निर्णयात्मक' जैसे शब्दों का प्रयोग करते थे, जैसे कोई आलोचनात्मक लेख लिख रहा हो। लेकिन धीरे-धीरे राकेश ने अपनी भाषा को काफी माँजा है। मार्कण्डेय और रेणु जैसे आंचलिक कहानीकारों की नवीन गतिविधि से भी स्पष्ट है कि वे धीरे-धीरे ग्रामीण शब्दों के आरम्भिक उत्साह को संयत कर रहे हैं।"¹³⁷ कहानी की भाषा में उपमाओं की भरमार, निबंध विधा जैसी विचारप्रधान भाषा या आलोचना विधा के उपयुक्त अवधारणात्मक सामासिक शब्दों का प्रयोग तथा अत्यधिक आंचलिकता को नामवर सिंह उचित नहीं मानते। कहानी को वे युग की नयी वास्तविकताओं को पकड़ने और छोटे-छोटे ब्यौरों के माध्यम से नयी वास्तविकता में जीवन की सार्थक बातों और विडम्बनाओं को उजागर करने का माध्यम मानते हैं। इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए कहानी की भाषा में काव्यात्मकता से अधिक उसका पारदर्शी और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक मानते हैं। इसीलिए वे लिखते हैं- "दरअसल भाषा का सवाल केवल कुछ शब्दों को छोड़ने और लेने तक ही सीमित नहीं है।

सवाल नयी वास्तविकता के अनुरूप उतनी ही यथातथ्य, कठोर, चुस्त, संवेदनशील, सजीव भाषा के निर्माण का है। और इस कार्य में नयी कहानी को अपनी भाषा की परम्परा से अनुशासित होना पड़ेगा। सार्त्र या आल्वेयर काम्यू की कहानियों की भाषा से जो परिचित रहे हैं वे देख सकते हैं कि नयी कहानी के गद्य का विकास सादगी की किस सीमा तक पहुँचा है। हल्के-हल्के शब्द और छोटे-छोटे वाक्य, एक पर एक जमे हुए सहज प्रवाह में बहते चलते हैं, फिर भी सूक्ष्म भाव अथवा विचार का कोई रेशा छूटने नहीं पाता। तमाम अलंकरण, आवरण का कूड़ा-करकट छोड़कर भाषा इतनी स्वच्छ और निर्मल हो उठी है कि विषयवस्तु और पाठक के बीच में भाषा का व्यवधान ही नहीं रह जाता। कहानी का कथ्य पूरी ताकत के साथ मन पर प्रभाव डालता है।¹³⁸ कथ्य पूरी तरह मन पर प्रभाव डाले, कहानी की भाषा की सार्थकता इसी बात में नामवर सिंह मानते हैं। कहानीकार के लिए भाषा का सौंदर्य कथ्य से अलग साध्य नहीं है, जैसे कविता में होता है। भाषा की सादगी ऐसी हो जो विषयवस्तु के व्यक्तित्व को झलकने का मौका दे, ऐसा चमकीला आवरण न बन जाए जिसके नीचे व्यक्तित्व ओझल रहे। भाषा सम्प्रेषण का माध्यम है तो सम्प्रेषण में व्यवधान उत्पन्न करने की क्षमता भी वह रखती है। कहानीकार की भाषा ऐसी हो जो कहानी के कथ्य और उसे पढ़ने वाले के बीच अलग से 'डीकोडिंग' की आवश्यकता पैदा करने वाला व्यवधान न बने।

कहानी की भाषा में संवेदनशीलता अवश्य होनी चाहिए, लेकिन भावुकता नहीं। नामवर सिंह ने कहानी में भावुकता की भंगिमा को संवेदनशीलता के विपरीत गुण के रूप में माना है, इसी कारण कहानी के पाठक और कहानी का मूल्यांकन करने वाले आलोचक के लिए 'भावुक' और 'भावप्रवण' कहानियों के भेद के प्रति सतर्क रहने की आवश्यकता उन्होंने बताई है। भावुकता की पहचान क्या है और अतिशय भावुकता से साहित्य क्षेत्र में

क्या हानि हो सकती है, इसे स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है- “भावुकता वहीं होती है जहाँ लेखक पाठक से इतनी तीव्र अनुभूति की मंशा रखता है जो स्वयं उस कहानी की वास्तविक सामग्री से उत्पन्न या समर्थित नहीं होती। इस प्रकार भावुकता का दुष्प्रभाव कहानी की कला पर पड़ता है—इसके कारण कहानी में जीवन की वास्तविकता का चित्रण ही कम नहीं होता, बल्कि कहानी के रचना-विधान में भी या तो निर्जीव सपाटता आती है अथवा निरर्थक एवं कृत्रिम जटिलता ! भावुकता में अनिवार्यतः अतिसरलीकरण का खतरा है—अतिसरलीकरण जीवन की समस्याओं के प्रति और अभिव्यक्ति के माध्यम के प्रति !”¹³⁹ ऐसी भावुकता कहानी की भाषा के स्तर पर कैसे परिलक्षित होती है, इसे बताते हुए वे लिखते हैं- “सबसे पहले तो भाषा के स्तर पर भावुकता के लक्षण प्रकट होते हैं। नाटकीय स्थितियों के अतिरिक्त कहानी में जहाँ भाषा को अधिक कवित्वपूर्ण, ललित, सुंदर या उदात्त बनाने की कोशिश दिखाई पड़े वहाँ समझ लेना चाहिए कि वस्तु-सत्य की पूँजी के अभाव में शब्दों के व्यापार के सहारे कामयाबी हासिल करने की कोशिश है।”¹⁴⁰

कहानी की भाषा पर विचार करने के साथ-साथ नामवर जी कहानी के आलोचकों की कहानी-भाषा संबंधी समझ पर भी विचार करते हैं। कहानी की भाषा के स्तर पर कहानी के उद्देश्य या सार्थकता तक पहुँचने को संभव मानते हुए कहानी के आलोचक में उस स्तर के विवेक का होना वे आवश्यक मानते हैं जिससे भाषा से वक्तव्य पहुँचने की सही राह पता चले। इस संबंध में वे कहते हैं- “यदि केवल भाषा के स्तर पर किसी कहानी के वक्तव्य को प्राप्त करने की कोशिश की जाए तो प्राप्ति संभव है। अंततः किसी लेखक को उसकी भाषा के माध्यम से ही जाना जा सकता है : चाहे उसका दर्शन जो हो और जितना भी है उसके अर्थ का विस्तार ! जो इस भाषा-विवेक के अभ्यास से कतराते हैं और इस लम्बे मार्ग को

तजकर किसी अगवाह रास्ते से शीघ्र ही उद्देश्य तक पहुँच जाना चाहते हैं वे अक्सर चूकते हैं और बारीक कहानियों में तो कहीं और जा पड़ते हैं।”¹⁴¹

रामविलास शर्मा हिंदी में गद्यकला और गद्य की भाषा के सौंदर्य का विवेचन करने वाली पुस्तकों के अभाव पर दुख जताया था। नयी कहानी के विश्लेषण के क्रम में कहानी की भाषा पर नामवर सिंह ने गम्भीरता से विचार किया है और इस अभाव की कुछ पूर्ति की है, लेकिन अन्य गद्य विधाओं की भाषा पर नामवर सिंह के यहाँ भी विचार-विश्लेषण नहीं मिलता। हिंदी में गद्य का इतिहास इतना पुराना नहीं है और न गद्य-कला या गद्य-भाषा के विवेचन की कोई पुरानी परिपाटी रही या आधुनिक आंदोलन हिंदी में चला है। नामवर सिंह के अनुसार भाषा के गद्य रूप की ऐतिहासिक जिम्मेदारी भी यही है कि वह अंतर्वस्तु को उभारने के लिए अपने स्वरूप को गौण रखे। अतः कथा और कथेतर साहित्य की भाषा पर अभी हिंदी में काव्यभाषा की तुलना में कम विचार हुआ है, तो यह अस्वाभाविक स्थिति नहीं कही जा सकती। नामवर सिंह भी इस मामले में अपवाद नहीं हैं। उपन्यास पर कुछ विचार उन्होंने किया है जो भारतीय उपन्यास संबंधी उनकी स्थापनाओं के लिए महत्वपूर्ण हैं लेकिन उपन्यास की भाषा शैली से संबंधित विचार उनके यहाँ नहीं मिलते। पर भाषाओं के मानक रूपों के विकास में उपन्यास विधा के योगदान को उन्होंने रेखांकित किया है। ‘अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास’ शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है- “...किसी राष्ट्र की अपनी पहचान उसकी भाषा है; और कहना न होगा कि सबसे लोकप्रिय रूपबंध के रूप में उपन्यास ने ही भारत की आधुनिक भाषाओं को मानक रूप दिया। यह मानकीकरण छपे हुए गद्य के बिना संभव ही न था। संतों-भक्तों ने आधुनिक भारत की लोकभाषाओं को साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित किया तो उपन्यास ने उन्हें राष्ट्रीय रूप प्रदान किया। इस दृष्टि से हिंदीभाषी क्षेत्र में उपन्यास की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।”¹⁴²

डॉ. नामवर सिंह के पास एक समृद्ध भाषा है और बारीक भाषा-दृष्टि है साथ ही भाषा के क्षेत्र में हो रहे नवीन चिंतन तथा शोध से गहरा विवेकपूर्ण परिचय है। इसी कारण साहित्य की परख करने के लिए वे उसकी भाषा के स्तर पर परीक्षण के कारगर तरीके व्यवहार करते हैं और उनसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष भी प्राप्त करते हैं।

भाषिकी का विद्वान हुए बिना कोई व्यक्ति अगर साहित्य का समीक्षक होने की बात करता है तो वह मजाक करता है। यह विचार प्रसिद्ध आलोचक, भाषावैज्ञानिक और काव्यशास्त्री रोमन जैकोब्सन का है।¹⁴³ भाषिकी यानी भाषा विज्ञान के समुचित ज्ञान के बिना न साहित्य की सही समझ विकसित हो सकती है न उसकी समीक्षा न्यायपूर्ण हो सकती है। जैकोब्सन की इस बात के आलोक में हिंदी के आलोच्य आलोचकों के आलोचना-कर्म को देखें तो हम पाते हैं कि इनकी भाषा-दृष्टि व्यापक और गम्भीर है। ये आलोचक अपने समय के सभी भाषा-विषयक सवालों और मुद्दों पर गम्भीरता से विचार करते हैं और उसके बीच से साहित्य-सम्बंधी अपनी दृष्टि को विकसित और अभिव्यक्त करते हैं।

संदर्भ सूची

1. जैसवाल, श्रीश, 2007, हिंदी का नवजागरण काल एवं भाषा विवाद,
इलाहाबाद: हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 12
2. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-3, (संपा. नामवर सिंह, आशीष त्रिपाठी), 2016, नई
दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ- 159
3. वही, 159
4. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, सं. 2069 वि., हिंदी साहित्य का इतिहास, वाराणसी:
नागरीप्रचारिणी सभा, पृष्ठ- 47
5. वही, पृष्ठ- 247
6. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-3, 159
7. वही, 182
8. वही, 182
9. वही, 426)
10. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-5, पृष्ठ- 172
11. वही, पृष्ठ- 172-173
12. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-2
13. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-5, पृष्ठ- 31
14. वही, 31
15. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-3, पृष्ठ- 350
16. हिंदी साहित्य का इतिहास, 72
17. वही, 72
18. वही, 79

19. वही, 75
20. वही, 79
21. वही, 79
22. वही, पृष्ठ- 110
23. वही, 156
24. वही, 115
25. वही, 187
26. वही, 137
27. वही, 171
28. वही, पृष्ठ-196
29. वही, 196
30. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-2, पृष्ठ-130
31. हिंदी साहित्य का इतिहास, 331-332
32. वही, 332
33. वही, 334
34. वही, 337
35. वही, 354
36. वही, 355
37. वही, 351
38. वही, 358
39. वही, 292

40. वही, 251
41. वही, 247
42. वही, 241
43. वही, 229
44. वही, 281
45. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-4, 241
46. हिंदी साहित्य का इतिहास, 301
47. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-3, 352
48. हिंदी साहित्य का इतिहास, 273
49. वही, 273
50. वही, 274
51. वही, 276
52. वही, 276
53. वही, 277
54. वही, 307
55. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-5, 273
56. आलोचना और विचारधारा, 194
57. Harari, Yuval Noah, 2016, Homo Deus : A Brief History of Tomorrow, London : Vintage, 181
58. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-7, 83
59. वही, 55
60. वही, 55

61. वही, 56
62. वही, 83
63. कॉडवेल, क्रिस्टोफर, 2015, विभ्रम और यथार्थ (अनुवादक- भगवान सिंह), नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ- 13
64. वही, 15
65. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-7, 62
66. वही, पृष्ठ-62
67. वही, 27
68. वही, 28
69. वही, 29
70. वही, 22
71. वही, 29
72. वही, 32
73. वही, 32
74. वही, 55
75. वही, 68
76. वही, 56
77. वही, 57
78. वही, 58
79. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-8, पृष्ठ- 400-401
80. हिंदी साहित्य की भूमिका, 94
81. हिंदी साहित्य की भूमिका, 100

82. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-4, 119
83. वही, 120
84. वही, 120
85. वही, 122
86. वही, 125
87. वही (126)
88. वही, (126)
89. हिंदी साहित्य की भूमिका, 127
90. The Sacred Wood, 62
91. हिंदी साहित्य की भूमिका, 128
92. वही, 128
93. भूमिका, भाषा और समाज
94. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, 42
95. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, 273
96. नयी कविता और अस्तित्ववाद, भूमिका
97. नयी कविता और अस्तित्ववाद, 26
98. वही, 32
99. वही, 22
100. वही, 22
101. वही, 74-75
102. भाषा, युगबोध और कविता, 147

103. वही, 39
104. एक कवि की नोटबुक, 41
105. भारतीय साहित्य की भूमिका, 5
106. भारतीय साहित्य की भूमिका, 6
107. भारतीय साहित्य की भूमिका, 5
108. निराला की साहित्य-साधना-2, 423
109. प्रेमचंद और उनका युग, 28
110. वही, 34
111. प्रेमचंद और उनका युग, चतुर्थ संस्करण की भूमिका
112. निराला की साहित्य-साधना-2
113. निराला की साहित्य-साधना-2, 502
114. इतिहास और आलोचना, 20
115. वही, 21
116. छायावाद, 108
117. छायावाद, 108
118. इतिहास और आलोचना, 103
119. वही, 104
120. कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता, 107
121. छायावाद, 109
122. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, 81
123. इतिहास और आलोचना, 106

124. वही, 106
125. वही, 107
126. कविता के नए प्रतिमान, 109
127. साहित्य की पहचान, 73
128. कविता के नए प्रतिमान, 229-30
129. कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता, 131
130. कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता, 131
131. कविता के नए प्रतिमान, 105-6
132. कविता के नए प्रतिमान, 112
133. कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता, 84
134. कहानी: नयी कहानी, 16
135. वही, 35
136. वही, 36
137. वही, 36
138. वही, 37
139. वही, 154
140. वही, 154
141. कहानी: नयी कहानी, 121
142. हिंदी समय, नामवर सिंह
143. Selden, Raman, Peter Widowson, Peter Brooker, 2007, A Readers Guide to Contemporary Literary Theory, Pearson Education, 41